॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥



वर्ष ६१] [संख्या १२

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,९०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर पौष, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१३, दिसम्बर १९८७ ई०

चित्र-सूची

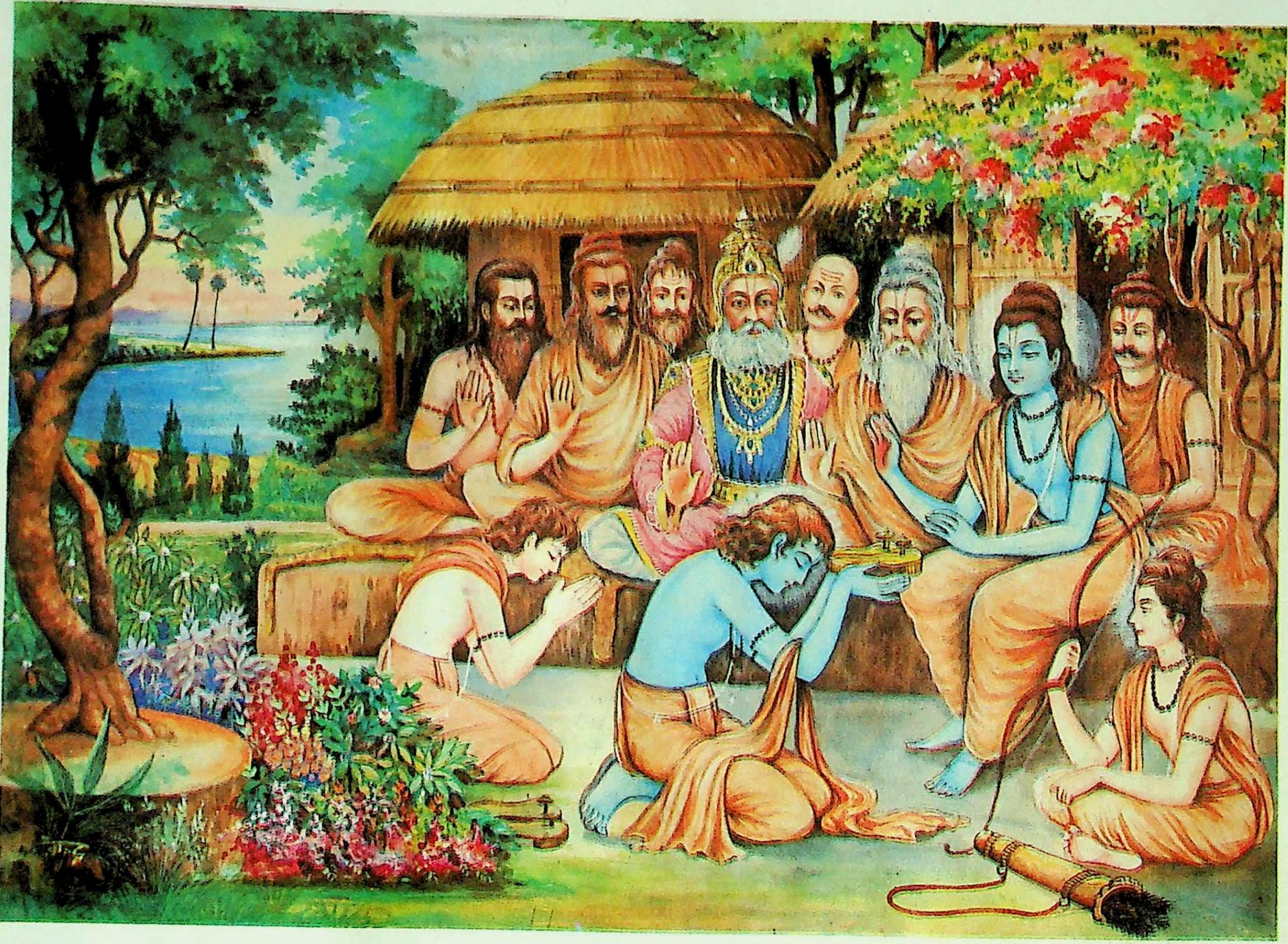
प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य
भारतमें १.२५रु०
विदेशमें १५ पेंस

जय विराट् जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

कल्याणका वार्षिक मूल्य
भारतमें ३०.००रु०
विदेशमें ५ पौण्ड अथवा ७ डालर

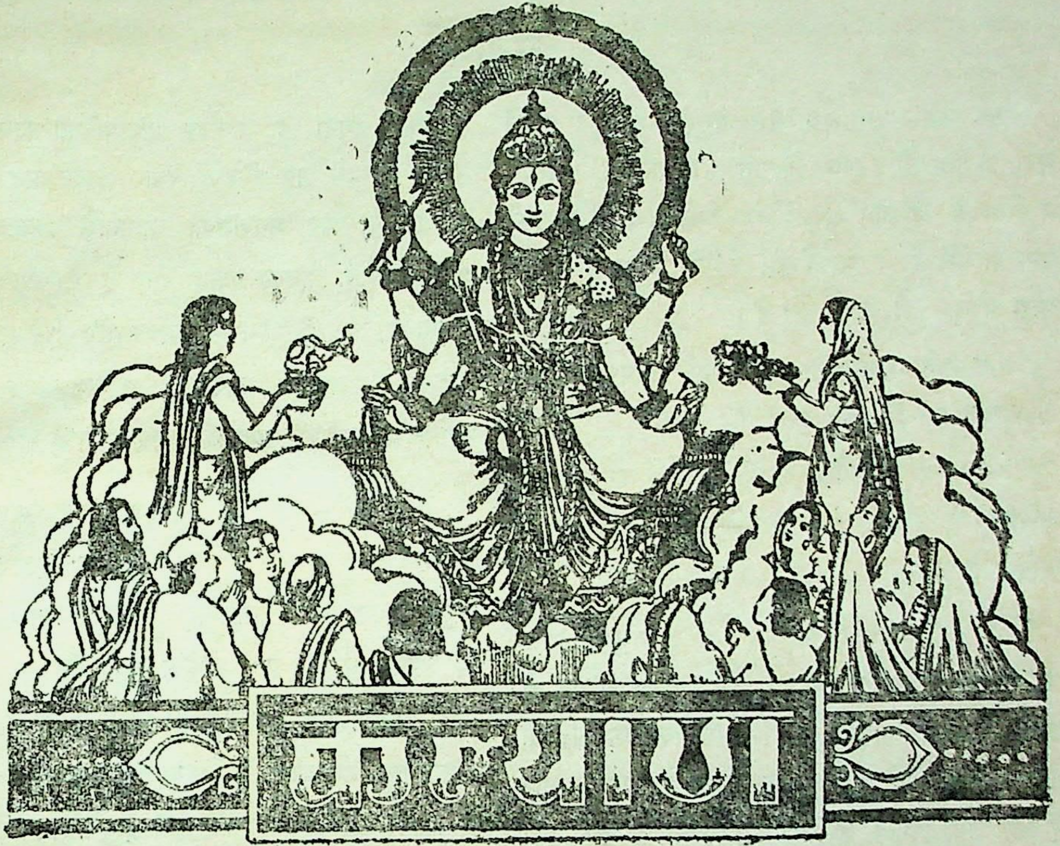
संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका

गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये जगदीशप्रसाद जालानद्वारा गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित



भरतको पादुका-दान

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ।
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिञ्च्यादिभिरपि प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति ॥

वर्ष ६१ } गोरखपुर, सौर पौष, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१३, दिसम्बर १९८७ ई० { संख्या १२
पूर्ण संख्या ७३२

श्रीभरतजीको पादुका-दान

काहेको मानत हानि हिये हौ ?
प्रीति-नीति-गुन-सील-धरम कहँ तुम अवलंब दिये हौ ॥
तात ! जात जानिबे न ए दिन, करि प्रमान पितु-बानी ।
ऐहौं बेगि, धरहु धीरज उर कठिन कालगति जानी ॥
तुलसिदास अनुजहि प्रबोधि प्रभु चरनपीठ निज दीन्हें ।
मनहु सबनि के प्रान-पाहरू भरत सीस धरि लीन्हें ॥

कल्याण

याद रखो—तुम संसारमें इच्छानुसार भोगसुख पानेमें सदा परतन्त्र हो। इच्छा कितनी ही कर लो, प्रारब्धमें न होगा तो वह भोग कदापि नहीं मिलेगा, पर भगवान्को प्राप्त करनेमें सदा स्वतन्त्र हो; क्योंकि भगवान् अनन्य इच्छा होनेपर ही मिल जाते हैं।

याद रखो—भोगोंकी प्राप्तिमें कर्म कारण हैं और भगवान्की प्राप्तिमें केवल इच्छा।

याद रखो—भोगोंकी प्राप्ति कर्म करनेपर भी अनिश्चित है और भगवान्की प्राप्ति अनन्य इच्छा होनेपर निश्चित है।

याद रखो—इच्छा करनेपर ही इच्छानुसार भोग-पदार्थ नहीं मिलते, पर यदि कहीं मिल भी गये तो उनसे दुःखकी निवृत्ति नहीं होगी; क्योंकि कोई भी भोगपदार्थ या लौकिक स्थिति पूर्ण नहीं है, सबमें अभाव हैं और जहाँ अभाव है, वहीं प्रतिकूलता है तथा जहाँ प्रतिकूलता है, वहीं दुःख है। पर भगवान्की प्राप्ति होने-पर सारे दुःखोंका सर्वथा अभाव हो जायगा; क्योंकि भगवान् अभावरहित तथा सर्वथा पूर्णतम हैं। उनकी प्राप्ति होनेपर न अपूर्णताका अनुभव होगा, न अभाव दीखेगा, न प्रतिकूलता रहेगी। सर्वत्र अनुकूलता तथा केवल सुख ही रहेगा।

याद रखो—भोगोंकी प्राप्ति होनेपर भी उनका वियोग या नाश होगा ही, अतः परिणाममें वे दुःखदायी होंगे, परंतु भगवान्की प्राप्ति होनेपर फिर कभी उनका वियोग नहीं होगा, अतः नित्य सुख रहेगा।

याद रखो—भोगोंकी कामनासे ज्ञान हरा जाता है और मनुष्य पाप करनेको बाध्य होता है। कामना ही पापोंकी जननी है, अतएव भोगप्राप्तिकी कामना और उसके प्रयत्नमें पाप होते हैं तथा पापका फल निश्चित ताप है ही; पर भगवान्की कामनासे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, ज्ञानका प्रकाश होता है और भगवत्प्राप्तिके समस्त साधन ही पुण्यमय, पवित्र और दैवी सम्पत्तिके स्वरूप हैं, अतएव भगवान्की कामना और उनकी प्राप्तिके प्रयत्नमें ही पुण्य और सुख होता है।

याद रखो—भोगोंकी कामना तथा भोग-सुखोंमें निमग्न-चित्तवाला पुरुष जीवनभर अशान्त रहता है तथा मृत्युके समय नाना प्रकारकी असंख्य चिन्ताओंसे ग्रस्त एवं अपूर्णकाम और प्राप्त भोगोंके वियोगकी सम्भावनासे सर्वथा अशान्त और अत्यन्त दुःखी रहता है; पर भगवान्की कामना तथा भगवद्भक्तिमें निमग्न-चित्तवाला पुरुष जीवन-भर शान्त और सुखी रहता है तथा मृत्युके समय एकमात्र सत्-चित्-आनन्दमय श्रीभगवान्का चिन्तन करता हुआ परम शान्ति और परमानन्दकी दशाको प्राप्त होता है।

याद रखो—मृत्युके समय मनुष्यका मन जहाँ रहता है, उसी गतिको वह प्राप्त होता है—इस सिद्धान्तके अनुसार भोग-कामी प्राणी दुःखमय योनि या लोकोंको प्राप्त करता है तथा भगवान्का भक्त भगवान्को या भगवान्के नित्य दिव्य धामोंको प्राप्त करता है।

याद रखो—भोग-कामनाकी पूर्तिमें तुम सदा-सर्वदा पराधीन हो, पर कामनाका त्याग करके भगवान्का भजन करनेमें सर्वथा स्वाधीन हो, अतः भोग-कामनाका त्याग करके भगवान्में चित्तवृत्तिको लगाओ। —'शिव'

मनोबोध—१६

(समर्थ स्वामी रामदास महाराजकी वाणी)

नसे गर्व आंगीं सदा वीतरागी ।
क्षमा शांति भोगी दयादक्ष योगी ॥
नसे लोभ ना क्षोभ ना दैन्यवाणा ।
इहीं लक्षणीं जाणिजे योगिराणा ॥१३४॥

जिसके अन्तसमें अहंकार नहीं होता, वह वीतराग संन्यासी होता है तथा क्षमा-शान्तिका भोग करनेवाला दयादक्ष योगी होता है। उसे क्षोभ-लोभ नहीं होता और न वह दीन-दुःखी ही होता है।

[वह सदा आनन्दरूप सच्चिदानन्दघन परमात्माका श्रद्धापूर्वक भजन करनेवाला वैराग्यशील ब्रह्मज्ञ पुरुष होता है। इन लक्षणोंसे योगिराजको जानना चाहिये।]

धरीं रे मना संगती सज्जनाची ।
जणें वृत्ति हे पालटे दुर्जनाची ॥
बळें भाव सद्बुद्धि सन्मार्ग लागे ।
महाक्रूर तो काळ विक्राळ भंगे ॥१३५॥

हे मन ! सज्जनोंकी संगतिमें रहो; जिससे दुर्जनकी भी वृत्ति पलट जाती है। भावबलसे सद्बुद्धि और सन्मार्ग-की प्राप्ति होती है तथा विकराल काल भी नष्ट होता है।

[आगे १३६वें श्लोकसे श्रीसद्गुरु समर्थ सगुणसे निर्गुणकी ओर—ब्रह्मस्वरूपकी ओर जाने-हेतु साधककी मनोभूमिका तैयार करते हैं।]

भयें व्यापिलें सर्व ब्रह्मांड आहे ।
भयातीत तें संत आनंत पाहे ॥
जया पाहतां द्वैत कांहीं दिसेना ।
भय मानसीं सर्वथाहीं असेना ॥१३६॥

भयने सारे ब्रह्माण्डको व्याप्त कर रखा है, किंतु भयातीत होकर संत अनन्त ब्रह्मको देखते हैं; जिसे देखनेपर द्वैत नष्ट हो जाता है और द्वैतके नष्ट होते ही सर्वत्र आत्मस्वरूप देखनेके कारण मनसे भय पूर्णतः नष्ट हो जाता है।

जिवा श्रेष्ठ ते स्पष्ट सांगोनि गेले ।
परी जीव अज्ञान तैसेचि ठेले ॥
देहेबुद्धिचें कर्म खोटें टळेना ।
जुनें ठेवणें मीपणें आकळेना ॥१३७॥

जो श्रेष्ठ तत्त्व है वह जीवको स्पष्ट बताया गया, किंतु अज्ञान उसका पहले-जैसा ही रहा। यह देहबुद्धि-का झूठा कर्म चल नहीं सकता और पुराना रक्षित धन 'मैं'पनके कारण समझमें नहीं आ सकता।

[जीवका सार्थकपना वस्तुतः आत्मज्ञान-प्राप्तिमें ही है, यह बताया गया; किंतु जीवका अज्ञान जैसा-का-तैसा रहा। यह माया-प्रपञ्च और देहबुद्धिका झूठा भ्रमात्मक कर्म है जो नहीं टलता और 'मैं-मेरा'के कारण 'मैं ब्रह्म हूँ' इस पुराने रक्षित धनका ज्ञान नहीं होता।]

भ्रमें नाडळे वित्त तें गुप्त जालें ।
जिवा जन्मदारिद्र ठाकूनि आलें ॥
देहेबुद्धिचा निश्चयो ज्या टळेना ।
जुनें ठेवणें मीपणें आकळेना ॥१३८॥

भ्रमके कारण जो ज्ञात था वह धन गुप्त हो गया। इससे जीवको जन्मरूपी दारिद्र्य भोगना पड़ता है। देहबुद्धिका निश्चय जिसका नहीं टलता उसे प्राचीन रक्षित धन प्राप्त नहीं होता।

[मैं 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' हूँ—यह ज्ञान है। 'मैं एक हूँ बहुत हो जाऊँ' 'एकोऽहं बहु स्याम्' । इस भ्रमात्मक इच्छाके कारण ब्रह्म जीव-दशाको प्राप्त हुआ। फिर ब्रह्मत्वका बोध अधिक भ्रमके कारण भूलते हुए जीवात्मा 'मैं देह हूँ' इस भावनाको दृढ़तर करता है। अपना स्वरूप भूलनेके कारण कर्माहंकार हो गया, इससे वह लगातार जन्म-मृत्युरूप दारिद्र्यका भोग करने लगा। जिसका 'मैं देह हूँ'—यह निश्चय टल गया, वह मुक्त हो गया। जिसकी देह-बुद्धि नष्ट नहीं हुई, उसे 'मैं-मेरा'-

के कारण पुरातन रक्षित धन प्राप्त नहीं होता । आत्म-धनके प्राप्त न होनेसे वह सदा ही जन्म-मृत्युके चक्रमें घूमता रहता है ।]

पुढें पाहतां सर्वही कोंदलेंसे ।
अभाग्यास हें दृश्य पाषाण भासे ॥
अभावें कदा पुण्य गांठीं पडेना ।
जुनें ठेवणें मीपणें आकळेना ॥१३९॥

सामने देखनेपर सब जगह भरा हुआ है, अभागे मनुष्यको सारा दृश्य-जगत् सामान्य पाषाणवत् ही दीखता है । उस (परमात्मा)का अभाव है, इस (भावना)के कारण पुण्यलाभ नहीं होता और प्राचीन रक्षित प्राप्तव्यका ज्ञान ममत्व-बोधके कारण नहीं होता ।

[जब दिव्य दृष्टि मिलती है और 'मैं ब्रह्म हूँ'का बोध होता है तब सर्वत्र चैतन्य ब्रह्म ही दीखता है, **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**का दर्शन होता है । अभागेको सारा दृगोचर होनेवाला जगत् पाषाणवत् जड दीखता है । जगत्में चैतन्य-बोधका अभाव है—ऐसा समझनेके कारण ब्रह्महीन जड जगत्-बोधके कारण पुण्य प्राप्त नहीं करता । प्राचीन रक्षित प्राप्तव्यका 'मैं विशुद्ध चैतन्यरूप ब्रह्म हूँ'का 'मैं-पन'के कारण ज्ञान कभी भी नहीं हो सकता ।]

जयाचें तया चूकलें प्राप्त नाहीं ।
गुणें गोविलें जाहलें दुःख देहीं ॥
गुणावेगळी वृत्ति तेही वळेना ।
जुनें ठेवणें मीपणें आकळेना ॥१४०॥

त्रिगुणात्मिका प्रकृतिमें चित्त रमनेके कारण देह-दुःख भोगना पड़ता है और जिसका जो चूक गया वह प्राप्त नहीं होता । त्रिगुणोंके कारण वृत्ति नहीं बदलती' अतएव 'मैं'-'मेरा'के कारण प्राचीन रक्षित प्राप्तव्यका ज्ञान नहीं होता ।

['ब्रह्मबोध हो'— यह अधिकार सबका है, किंतु त्रिगुणात्मिका प्रकृतिसे जन्य देहमें तीन गुण सत्त्व, रज, तमके कारण ममत्व-बोध होनेसे गलती हो जाती है और ब्रह्मबोध नहीं होता ।]

म्हणे दास सायास त्याचे करावे ।
जनीं जाणता पाय त्याचे धरावे ॥
गुरू-अंजनेवीण तें आकळेना ।
जुनें ठेवणें मीपणें तें कळेना ॥१४१॥

सद्गुरु रामदास कहते हैं—उसके लिये (ब्रह्मबोध प्राप्त करनेका) प्रयत्न करना चाहिये । सज्जनोंमें जो ब्रह्मज्ञानी है, उस सद्गुरुके चरणोंका आश्रय ग्रहण करना चाहिये । श्रीगुरुकृपाके अञ्जनकी प्राप्तिके बिना उसका ज्ञान नहीं हो सकता और प्राचीन रक्षितका लाभ ममत्व-बोधके कारण नहीं होता ।

कळेना कळेना कळेना ढळेना ।
ढळे नाढळे संशयोही ढळेना ॥
गळेना गळेना अहंता गळेना ।
बळें आकळेना मिळेना मिळेना ॥१४२॥

समर्थ कहते हैं कि 'सद्गुरुकी कृपाके बिना ब्रह्मत्व-बोध नहीं होता' यह त्रिबार सत्य है तथा मनका संशय नष्ट नहीं होता, अहंकार विगलित नहीं होता और 'मैं देह हूँ' इस भावनाकी प्रबलतासे प्राचीन रक्षित प्राप्त नहीं होता और ज्ञान भी नहीं होता । (क्रमशः)

(अनु०—कुमारी रोहिणी गोखले)

सर्वोपरि कर्तव्य-धर्म

एक 'उपास्य' देव ही करते लीला विविध अनन्त प्रकार ।
पूजे जाते वे विभिन्न रूपोंमें निज-निज रुचि-अनुसार ॥
सर्वोपरि कर्तव्य-धर्म है यही एक जीवनका सार ।
करें स्वकर्मोंसे उपासना उनकी ही रख शुद्ध विचार ॥

पशु-धन

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

आज भारतवर्षकी जैसी दुर्दशा है, उसे देखकर विचारवान् पुरुषमात्र प्रायः दहल उठेंगे। भारतवर्षकी वह पुरानी सभ्यता, उसकी शिक्षा-प्रणाली और उसका बल, बुद्धि, तेज आदिसे भरा हुआ जीवन आज कहाँ है ? जिस भारतवर्षसे अन्य समस्त देशोंके सहस्रों नर-नारी शिक्षा ग्रहण कर अपना जीवन उन्नत बनाते थे, आज उसका वह अलौकिक गौरव कहाँ है ? आज तो वह सर्वथा बलहीन, विद्याहीन, बुद्धिहीन, गौरवहीन और धनहीन होकर पराधीन-सा हो गया है। इस अवनतिका कारण क्या है ? विचार करनेसे अनेक कारण जान पड़ते हैं। उन्हीं कारणोंमेंसे पशुओंका ह्रास भी एक प्रधान कारण है।

पूर्वकालमें इस देशमें पशुओंकी कितनी अधिकता थी, यदि इस बातपर पूर्णरूपसे विचार किया जाय तथा उनकी संख्याका हिसाब लगाया जाय तो बहुत-से लोग उस संख्याको असम्भव-सा समझेंगे, किंतु यह ऐतिहासिक और प्रामाणिक बात है। वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डमें कथा आती है कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके पास त्रिजट नामका एक ब्राह्मण आया और उनसे धनकी याचना की। महाराजने उससे कहा कि 'मेरे पास बहुत-सी गौएँ हैं, आप अपने हाथसे एक डंडा फेंकिये, वह डंडा जहाँ जाकर गिरे, यहाँसे वहाँतक जितनी गौएँ खड़ी हो सकें, आप ले जाइये।' विचार करनेसे पता चलता है कि जहाँ विनोदरूपमें एक याचकको इस प्रकार हजारों गौएँ दानमें दी जा सकती हैं, वहाँ दान देनेवालेके पास कितनी गौएँ हो सकती हैं ? श्रीमद्भागवतमें राजा नृगका इतिहास बहुत ही प्रसिद्ध है, वे हजारों गौओंका दान प्रतिदिन किया करते थे। केवल पाँच हजार वर्ष पहलेकी बात है कि नन्द-उपनन्द आदि गोपोंके पास लाख-लाख गौएँ रहा करती थीं, यह बात भी श्रीमद्भागवतमें ही है। महाभारतके विराटपर्वसे भी यह पता चलता है कि राजा विराटके पास लगभग लाख गौएँ थीं, जिनका हरण करनेके लिये कौरवोंकी विशाल सेनाने दो भागोंमें विभक्त होकर विराटनगरपर चढ़ाई की थी।

उस समय जिस प्रकार गौओंकी अधिकता थी, उसी प्रकार अन्य पशुओंकी भी बहुलता थी। घोड़े, हाथी आदि पशुओंकी संख्याका अनुमान लगाइये—एक अक्षौहिणी सेनामें इक्कीस हजार आठ सौ सत्तर (२१८७०) हाथी, पैंसठ हजार छः सौ दस (६५६१०) घुड़सवारोंके घोड़े और सत्तासी हजार चार सौ अस्सी (८७४८०) रथोंके घोड़े होते हैं। ऐसी तेईस-तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर जरासंधने सतरह बार भगवान् श्रीकृष्णपर चढ़ाई की थी एवं प्रतिबार भगवान्‌ने सबका विनाश कर दिया था। महाभारतके उद्योगपर्वमें कौरवोंकी ओरसे ग्यारह अक्षौहिणी और पाण्डवोंकी ओरसे सात अक्षौहिणी सेनाएँ कुरुक्षेत्रके मैदानमें एकत्रित हुई थीं, ऐसा उल्लेख मिलता है। उनमेंसे केवल ग्यारह मनुष्य ही बचे थे, शेष सब-की-सब सेना मारी गयी थी। इस प्रकार बड़े-बड़े संहार होते रहनेपर भी करोड़ों पशु वर्तमान थे; किंतु बड़े दुःखके साथ कहना पड़ता है कि आज उस अनुपातसे विचार करनेपर रुपयेमें एक आना भी पशुओंकी संख्या नहीं रह गयी है।

देश, जाति, धर्म, समाज, व्यापार तथा स्वास्थ्यकी रक्षा और वृद्धिमें पशु-धन एक मुख्य हेतु माना गया है। आर्थिक दृष्टिसे पशु-धनका होना सबके लिये गौरवकी बात समझी गयी है, खासकर वैश्यजातिके लिये तो यह केवल आर्थिक महत्त्व ही नहीं रखता; प्रत्युत पशु-

पालन उनके धर्मका एक मुख्य अङ्ग भी है। मनुस्मृतिमें कहा है—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥
(१। ९०)

अर्थात् 'वैश्योंका धर्म पशुओंका पालन करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद-शास्त्रोंको पढ़ना, व्यापार, ब्याज और कृषिद्वारा जीविका चलाना है।'

यहाँ यह बात भी ध्यानमें रखनेकी है कि कृषिकर्म करनेवाले सभी मनुष्य वैश्योंके ही तुल्य हैं। अतः उन सबके लिये भी पशु-पालन धर्मका एक मुख्य अङ्ग हो जाता है, किंतु आज भारतवर्षमें बहुत ही कम वैश्य और कृषिकर्म करनेवाले लोग ऐसे हैं जो आर्थिक और धार्मिक दृष्टिसे इतना महत्त्व रखनेवाली वस्तुकी ओर यथोचित ध्यान देते हों। वैश्य और किसान पशुओंकी सहायतासे खेत जोतकर उपजाये हुए अन्नसे सम्बन्ध रखते हैं, उनकी नस-नसमें पशुओंके परिश्रमसे उत्पन्न हुए अन्नका रक्त दौड़ता है, किंतु मूक पशुओंकी दशा सुधरे, उनकी वृद्धि हो, वे पुष्ट हों, इस बातकी ओर उनका ध्यान बहुत ही कम रहता है।

सब पशुओंकी उन्नतिकी बात तो दूर रही, पशुओंमें सर्वश्रेष्ठ गौएँ, जिनका महत्त्व शास्त्रोंमें धर्मकी दृष्टिसे भी बहुत अधिक बतलाया गया है और जिसका आदर्श स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने व्रजमें गौओंको चराकर दिखलाया है तथा जिसे वैश्योंके धर्मका प्रधान अङ्ग बतलाया है (गीता १८। ४४), जो देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य आदि सबको अपने दूध-दहीके द्वारा तृप्त करनेवाली हैं, आज उनकी कितनी उपेक्षा हो रही है, यह देखकर चित्तमें खेद हुए बिना नहीं रह सकता। प्रतिवर्ष लाखोंकी संख्यामें गौओंका ह्रास होता चला जा रहा है तथापि हिंदू-जनता उनकी रक्षासे इस प्रकार उपराम-सी हो रही है, मानो उसे इस बातकी खबर ही नहीं है। इसका भयानक परिणाम यह हो रहा है कि मनुष्य-जीवनके लिये धर्म और स्वास्थ्य दोनोंकी दृष्टिसे अत्यन्त आवश्यक माने हुए दूध, घी, दही आदिका सर्वसाधारणके लिये प्राप्त होना कठिन होता जा रहा है। दूध-दहीके अभावसे भारतीय संतानका स्वास्थ्य किस प्रकार गिरता जा रहा है, यह तो धर्मको न माननेवाले भी प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं। जहाँ कुछ दिन पहले इसी देशमें पवित्र दूध पैसे सेर, पवित्र घी तीन-चार आने सेर मिलता था, वहाँ आज पवित्र दूध और पवित्र घी किसी भी मूल्यमें सर्वसाधारणको मिलना कठिन हो गया है। यदि समय रहते भारतवासी सावधान नहीं होंगे, इसी तरह गोधनकी उपेक्षा करते रहेंगे तथा गौओंके बढ़ते हुए ह्रासको रोकनेकी चेष्टा नहीं करेंगे तो भविष्य और भी भयानक हो सकता है। उस समय कोई उपाय करना भी कठिन हो जायगा, इसलिये विचारवान् मनुष्योंको चाहिये कि वे पहलेसे ही सावधान हो जायँ। खासकर प्रत्येक हिंदूके लिये तो इस समय यह एक प्रधान कर्तव्य हो गया है कि वे इस ओर ध्यान दें और सब प्रकारसे गौओंकी रक्षाके लिये चेष्टा करें।

गौओंका ह्रास होनेमें निम्नलिखित कारण मुख्य हैं—

१—(क) जनताके अंदर प्रतिदिन धर्म और ईश्वरका भय कम होता जा रहा है। अतः कम दूध देनेवाली और दूध न देनेवाली गौओंको कसाईके हाथ बेचनेमें अधिकांश हिंदू जनता भय नहीं करती।

(ख) बहुत-से निर्दय किसान दूध न देनेवाली गौओंको अपने घरसे निकाल देते हैं। वे मारी-मारी फिरती हैं और अन्तमें मवेशीखानेमें पहुँचायी जाकर कसाईके हाथमें पड़ जाती हैं।

२–प्रतिवर्ष सूखे और ताजे मांसके लिये तथा चमड़ेके लिये लाखों जीवित गौओंकी हत्या की जाती है।

३–बहुत-से धनके लोभी हीनवृत्तिवाले मनुष्य अधिक दूध देनेवाली गौओंको खरीदकर उनके बछड़ेको तो निरर्थक समझकर कसाईके हाथ बेच देते हैं और फूँकेके द्वारा उन गौओंको विवश करके उनका सारा दूध निकाल लेते हैं। परिणाम यह होता है कि कुछ ही दिनोंमें वे गौएँ निकम्मी हो जाती हैं और उस समय वे उन्हें भी कसाईके हाथ बेच डालते हैं।

४–साँड़ अच्छे न मिलनेके कारण गौओंकी नस्ल बिगड़ती जाती है, उनसे अच्छी संतान उत्पन्न नहीं हो सकती। उनके बच्चे बहुत ही कम आयुवाले, कमजोर और दुबले-पतले होते हैं।

५–गौओंके निमित्त छोड़ी हुई गोचरभूमिको जमींदार और किसान आदि लोभवश जोतते जाते हैं। अतः चारेके अभावमें प्रतिवर्ष हजारों गौएँ मर जाती हैं।

६–मांस खानेवाले मनुष्योंके लिये और बाढ़, महामारी, अकाल आदि दैवी कोपके कारण प्रतिवर्ष लाखोंकी संख्यामें गौएँ नष्ट हो जाती हैं।

इस ह्रासको रोकनेके लिये निम्नलिखित उपाय काममें लाये जा सकते हैं—

१–धार्मिक पुरुषोंको चाहिये कि पत्र और व्याख्यानादिद्वारा लोगोंमें धार्मिक भाव उत्पन्न करें, जिससे धार्मिक भावोंकी वृद्धि होकर लोगोंमें गौओंके प्रति दयाका संचार हो और वे लोग गौओंको कसाईके हाथ न बेचें तथा दूध न देनेवाली गौओंकी उपेक्षा भी न करें।

२–पशुओंके अभावसे देशकी दुर्दशा दिखलाकर सरकारके पास अपील करते हुए, जो प्रतिवर्ष हजारों टन मांस विदेशमें भेजनेके लिये गौओंकी हत्या की जाती है, उसे बंद कराना चाहिये।

३–मांस खानेवाले भारतवासियोंको 'मांसकी अपेक्षा दूध-घीमें अधिक लाभ दिखलाकर तथा गौओंके ह्रासमे देशका पतन अनिवार्य है, यह समझाकर प्रेमपूर्वक शान्तिसे मांस खानेसे रोकना चाहिये।

४–प्रत्येक ग्राममें अच्छी नस्लकी गौओंकी वृद्धि हो, इसके लिये धनिक एवं गोशालाध्यक्षोंको अच्छी नस्लके साँड़ोंको पालना चाहिये। अथवा सरकारसे अच्छी नस्लके साँड़ोंका प्रबन्ध करवाना चाहिये।

५–सरकार, धनिक, जमींदार, किसान आदिसे प्रार्थना करके सभी ग्रामोंमें गोचरभूमि छुड़वानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

६–जहाँ बाढ़, भूकम्प, अकाल आदि दैवी कोपसे चारेके अभावके कारण गौएँ मरती हों, वहाँ तन, मन, धन लगाकर उनके चारे आदिका प्रबन्ध करके उन्हें मृत्युके मुखसे बचानेके लिये यथेष्ट परिश्रम करना चाहिये।

७–प्रत्येक किसान और गृहस्थको अपने-अपने घरोंमें यथाशक्ति कम-से-कम एक या दो गौओंको अवश्य पालना चाहिये।

८–पूर्णरूपसे आन्दोलन करके ऐसे कानून बनवाने चाहिये, जिनसे गोवध कतई बंद हो जाय।

विचारवानोंको उचित है कि उपर्युक्त उपायोंको काममें लाते हुए यथाशक्ति गौओंकी रक्षा करें। अर्जुनने तो केवल गोरक्षाके लिये बारह वर्षका वनवास स्वीकार किया था, इस समय यदि उतना न हो सके तो जितनी बन सके उतनी चेष्टा तो तन, मन, धनसे करनी ही चाहिये।

निष्काम-कर्म

(ब्रह्मलीन श्रीमगनलाल हरिभाईजी व्यास)

अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये भगवान्‌ने बहुत-से उपाय बताये हैं। अतः चित्तको भोगोंकी ओरसे खींचकर परमात्माकी ओर ले जानेमें जिज्ञासुको सब कुछ त्याग करना चाहिये या सबके मध्यमें रहकर चित्तको परमात्मामें लगाना चाहिये ? यह प्रश्न होता है। हम जीवित रहते हुए संसारका त्याग नहीं कर सकते तथा खाना-पीना छोड़ नहीं सकते। पहाड़पर जायँ अथवा जंगलमें जायँ, प्राणी-पदार्थका सम्बन्ध छूटेगा नहीं। परिवार त्यागकर शिष्य बनाते हैं, घर छोड़कर मठ बनाते और पशु-पक्षियोंको पालते तथा खिलाते हैं। इसलिये सबसे अच्छा तो यह है कि जहाँ-कहीं हों, वहीं रहकर फलेच्छारहित शुभ कर्म करते हुए परमात्माकी आराधना करनी चाहिये और भोगोंका त्याग करना चाहिये। वासनाका त्याग किये बिना केवल कुटुम्बका त्याग करनेसे कल्याण न होगा। जिस समाज और व्यवहारमें हम हैं उन सबको ज्यों-का-त्यों छोड़कर शरीरका नाश हो जायगा और शरीरसे भिन्न जीवात्मा यहाँसे चला जायगा। उसके बाद उसका यहाँसे कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा, ऐसा जब हम ध्यानपूर्वक मन लगाकर सुनते हैं तब हमें एक झटका-जैसा लगता है।

हम जन्म लेकर सम्पूर्ण जीवनभर यहाँके प्राणी-पदार्थोंको प्राप्त करने और भोग भोगनेके लिये ही परिश्रम करते हैं, परंतु अन्तमें क्या होगा ? काल भगवान्‌का बुलावा जब आयेगा तब क्या होगा ? कहते हैं कि यह सब यहीं-का-यहीं रह जायगा और हमें अकेले ही जाना पड़ेगा। कुटुम्ब और परिवार सब यहीं रहेगा। धन-सम्पत्ति सब यहीं रहेगी। यहाँसे वहाँ अथवा वहाँसे यहाँ पत्र, संदेश या तार न तो आता है और न तो जाता है। कालको तलवार, बंदूक, तोप, लश्कर अथवा कोई भी न तो पीछे घुमा सकता है और न बाँध ही सकता है, तो फिर जीवित रहते हुए यह सब खटपट क्यों करनी चाहिये ? यह सब छोड़कर ऐसा क्यों न करें जो यहाँसे जानेके पश्चात् काममें आवे। इसलिये जीवित-अवस्थामें सम्पूर्ण जीवनका कर्म इस प्रकार रखना चाहिये जो शरीरके नष्ट होनेपर काम आवे और उसके लिये इस संसारमें जिसका भी त्याग करना पड़े, उसका त्याग करना चाहिये। ऐसा विचार बहुतों-को होता है। यहाँके कर्म अथवा परलोकमें उपयोगी कर्म—दोनों भोग प्रदान करनेवाले हैं। दूसरे कर्म हैं मोक्षदायक कर्म। इस प्रकार भोगकर्म और मोक्षकर्म दोनों प्रकारके कर्मोंमें भोग-कर्मसे जन्म, मरण और अनन्त दुःख होता है, इससे उसका त्याग करके मात्र मोक्ष-कर्म क्यों न किये जायँ ? यह प्रश्न हमारे भीतर होता है। यहाँ शुभ कर्मोंका ही विचार करना है। अशुभ अर्थात् पाप-कर्म तो भोग या मोक्ष—दोनोंमेंसे कुछ भी चाहनेवालेके लिये त्याज्य हैं। भगवान्‌ने गीतामें बार-बार बताया है कि इस लोक और परलोकके भोग शुभकर्मके फलसे उत्पन्न होते हैं। शुभ कर्म किये बिना—पुण्यकर्म किये बिना भोग मिलते ही नहीं। पुण्यका फल सुख और पापका फल दुःख है। गीतामें भगवान् कहते हैं कि पुण्यकर्मके फलकी इच्छा की जाय तो भोग मिलेंगे और यदि इच्छा न रखें तो मोक्ष मिलेगा, इसलिये भगवान्‌ने यह निर्णय किया कि शुभ कर्म तो करो, परंतु उसके फलरूप भोगकी इच्छा मत रखो तो वह मोक्षदाता होगा।

तब प्रश्न यह होता है कि इन सबकी अपेक्षा तो अच्छे या बुरे कोई भी कर्म न किये जायँ तो इसका उत्तर यह है कि जिसके मनमें यह बात आये उसे एकान्तमें शरीर और इन्द्रियोंकी हलचल रोककर बैठना

चाहिये। वाणी भी रोकना और विचार भी बंद करने चाहिये। अब परीक्षा करके देख लें कि शरीर, वाणी या मन कितने समयतक निष्क्रिय रहते हैं? शरीरसहित वाणी तो थोड़ी देर रुक सकती है, परंतु मन तो नहीं ही रुकेगा। हम शरीर नहीं हैं, हम चित्त नहीं हैं। स्थूल और सूक्ष्म शरीर प्रकृतिका है, प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ है, प्रकृतिरूप सागरमें है और प्रकृतिके ही वशमें है। शरीर प्रकृतिके अधीन है। जैसे जगत्के सब पदार्थ विकारी तथा विनाशी हैं, ऐसे ही अपना शरीर भी विकारी तथा विनाशी है। जीवित शरीर, जाग्रत् चित्त सम्पूर्ण जीवनमें निष्क्रिय रहे, ऐसा कभी सम्भव ही नहीं।

जगत्के पदार्थ चित्तमें विकार करेंगे और उन पदार्थोंके अधीन चित्त अपनी शक्तिके अनुसार शरीर और इन्द्रियोंके माध्यमसे कर्म करेगा ही। तो फिर प्रकृतिके अनुसार शुभ कर्म करने और उनके फल-भोगकी इच्छा न रखकर शरीर और मनके धर्मरूप कर्म करते रहने चाहिये। परंतु शास्त्रोंमें और लोकमें जो संन्यासाश्रमकी बात आती है उसका क्या अर्थ है? जो कञ्चन और कामिनीका त्याग करे उसे साधु कहा जाता है, इसका क्या अर्थ है? इनका त्याग करनेवाला भी कुछ शुभ कर्म तो करता ही होगा। यदि उस कर्मका फल भोगकी इच्छा है तो बन्धन रहेगा ही। इसलिये संन्यास लेनेवाला भी स्वयं जो कर्म करता है, उसके फलका त्याग तो मोक्ष-प्राप्तिके लिये उसे करना उचित ही है। इसलिये कर्मफलका त्याग तो सबके लिये आवश्यक है और इसी दृष्टिसे वह सबसे श्रेष्ठ है। वेष बदलनेसे कोई संन्यासी अथवा साधु नहीं होता। संन्यासी और साधुका शरीर भी कर्म तो करेगा ही।

जो जगत्से सेवा लेता है वह साधु नहीं है, परंतु जो संसारकी सेवा करता है वह साधु है। जो भोगोंके लिये नहीं, परंतु ईश्वरके लिये, संसारके लिये—'यज्ञार्थ' कर्म करता है वह साधु है। संसारी मनुष्य जो कर्म करते हैं, वह अपने तथा अपने भोगोंके लिये करते हैं। साधु परमात्माके लिये कर्म करता है। सच्चे अर्थमें वास्तविक साधु वह है जो निर्वाहमात्रके लिये अन्न-जल लेता हुआ इन्द्रियों और मनसे जगत्की सेवा परमात्मप्रीत्यर्थ करता है। ऐसा साधु सेवकोंसे सेवा नहीं लेता, माल-मिष्टान्न नहीं उड़ाता, मानकी इच्छा नहीं रखता, भोगों तथा विषय-सुखमें रचा-पचा नहीं रहता, देश-परदेशमें मौज उड़ाता हुआ नहीं घूमता, वह अपनेको अन्तःकरणसे परमात्माका तथा परमात्म-स्वरूप प्राणिमात्रका सेवक मानता है और सेवाका एक भी अवसर नहीं छोड़ता।

अपने साधन तथा शक्तिका जो अपने लिये उपयोग करता है, वह संसारी है तथा जो अपनी साधनशक्तिको परमात्मा तथा प्राणिमात्रकी सेवामें उपयोग करता है, वह संन्यासी है। इसीलिये जो सेवा ले वह संन्यासी नहीं, अपितु जो सेवा करता है वह संन्यासी है। दूसरेको दुःखी देखकर जो अपना सब कुछ स्वाहा कर दे वह संन्यासी है। संत गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥
संत सहहिं दुख परहित लागी।

दूसरेका दुःख देखकर जो यह कहता है कि 'सब अपने-अपने कियेका फल भोगते हैं' ऐसा कहकर बैठा रहनेवाला साधु नहीं है। जो स्वयं कर्म तो करता नहीं, परंतु भोग-वैभवका भोग करता है वह साधु या संन्यासी नहीं है। जो दिन-रात परमात्माकी सेवामें तत्पर रहता है वह सच्चा साधु या सच्चा संन्यासी है।

अपना शरीर जैसे भी संयोगमें हो, वैसे ही रहकर शरीरकी प्रकृतिके अनुसार शरीरको धर्मका-साधन समझकर

कर्म करता रहे और वह भी फलकी अर्थात् भोग-सुखकी आशासे नहीं, परंतु कर्तव्य समझकर और उस कर्मसे परमात्माकी आराधना करे, उन्हें प्रसन्न करे, जिनकी प्रसन्नतासे ज्ञान, मोक्ष तथा आत्यन्तिक शान्ति मिलेगी।

त्याग और संन्यासको हम ठीकसे समझें—कुटुम्ब, व्यवहार, धन-उपार्जन आदि सबका त्याग करके जो भिक्षापर निर्वाह करता हुआ परमात्माकी आराधना करता है वह संन्यासी कहलाता है। जिनके द्वारा भोग प्राप्त होते हैं ऐसे धन, स्त्री, कुटुम्ब आदि सबका वह त्याग करता है। ऐसा संन्यासी भी जप, तप, उपदेश, उपासना आदि करता है, भोजन, कपड़ा ग्रहण करता है; उन सबमें भी भोगेच्छा रह सकती है। अच्छा भोजन, अच्छे कपड़े, तीर्थाटन, मान, परलोकमें सद्गति—इन सब इच्छाओंको लोक-प्रचलित साधु सम्भवतः साथ लिये रहता है, परंतु कर्मफलके त्यागमें संन्यासका समावेश होता है, किंतु संन्यास-आश्रममें कर्मफलके त्यागका समावेश नहीं होता। भोगेच्छाका त्याग जबतक नहीं होता तबतक संन्यासीका वेश होते हुए भी उसका पतन हो सकता है। इसलिये स्वधर्म-रूप कर्म करते हुए भोगेच्छाका त्याग करना ही सच्चा त्याग है।

अमर-काव्य

प्रत्येक मनुष्यके दो रूप होते हैं—पहले रूपमें संतों और योगियोंके गुण होते हैं तथा दूसरेमें ऐसी वृत्तियाँ होती हैं, जो मनुष्यको घृणित और दूषित बनाती हैं। श्रीरामचन्द्रजी प्रथम स्वरूपके अवतार थे और रावण दूसरे स्वरूपका था। इससे शिक्षा मिलती है कि हम सभी लोग इच्छानुसार अपने जीवनको दैवी या आसुरी बना सकते हैं। हम स्वयं ही अपने भविष्यके निर्माता हैं। साधारणतः लोगोंमें सद्वृत्तियोंकी अपेक्षा असद्वृत्तियाँ ही अधिक प्रकट हुआ करती हैं। अर्जुनने इस बातका अनुभव करके श्रीकृष्ण भगवान्‌से वह उपाय बतलानेके लिये प्रार्थना की थी, जिसके द्वारा कामना और आसक्तिसे विक्षिप्त-चित्त पुरुष योगकी स्थितिको प्राप्त हो सकता है। भगवान् श्रीकृष्णने बड़े ही मनोहर श्लोकोंमें ऐसे विभिन्न साधन बतलाये हैं, जिनसे मन वशीभूत किया जा सकता है—'मुझमें मन-बुद्धि लगाकर सब काम करते रहो—'मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।' ऐसा न कर सको तो 'मेरे कर्मोंमें लगे रहो, जो कुछ करो सो मेरे लिये करो—'मत्कर्मपरमो भव' 'मदर्थमपि कर्माणि।' यह न हो सके तो कर्मफलकी आशा छोड़ दो 'सर्वकर्मफलत्यागं कुरु'। इस तरह अनेक प्रकारसे अहंकारपर विजय प्राप्त करने तथा योगियोंकी परमावस्थातक पहुँचनेका रहस्य भगवान्‌ने समझाया।

यह उपदेश श्रीरामचन्द्रजीके आचरण और उपदेशका प्रतिफलरूप है। × × × ×

हम कह सकते हैं कि जैसी भावप्रकाशनकी सरल और चमत्कृत शैली, उच्च विचार तथा दिल फड़कानेवाली घटनाओंसे युक्त रचना वाल्मीकिकी है, उससे बढ़कर रचना साहित्य-शास्त्रमें हो ही नहीं सकती। यही कारण है कि यह काव्य वृद्ध-युवा, सज्जन-दुर्जन, आस्तिक-नास्तिक सबके मनको मोह लेता है। ब्रह्माने ठीक ही कहा था कि जबतक चन्द्र-सूर्य चमकते रहेंगे और जबतक ससागरा पृथ्वीका अस्तित्व रहेगा, तबतक यह काव्य जीवित रहेगा।

—स्वर्गीय जस्टिस् टी० वी० शेषगिरिअय्यर

वेणुगीत

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

[गताङ्क पृ०-सं० १०६७से आगे]

वृन्दावनकी भूमिका सौभाग्य वर्णन करते-करते गोपियोंको वनके पशु-पक्षी दिखायी देने लगे, मयूर दीखने लगे। वंशीकी ध्वनिको सुनकर मानो दल-के-दल मयूर आ रहे हैं। वे परस्पर कहने लगीं—'सखी! देखो तो सही, ये गाय चरानेके लिये गये और वहाँ लीलामय विचित्र खेल खेलने लगे। क्रीडारसिक श्यामसुन्दर, रसिकशेखर व्रजराजनन्दनने वेणु बजायी तो दल-के-दल मयूरोंने आकर उन्हें चारों ओरसे घेर लिया और अपनी-अपनी पूँछें फैलाकर उनके वंशी-गानके साथ-साथ ताल देकर नाचने लगे। जरा इस झाँकीका ध्यान कीजिये—बीचमें खड़े श्यामसुन्दर वंशी बजा रहे हैं, नटवर वेश है, कनेरके फूलको कानपर टाँगे हुए हैं, सिरपर जूड़ा बँधा है, उसमें मयूरकी पाँख खोंसे हुए हैं, पीत वस्त्र है। वनमाला, गुंजामाला झूल रही हैं। श्यामसुन्दर पैरपर पैर रखे अपने त्रिभंगललित स्वरूपमें खड़े हैं। उन्हें चारों ओरसे हजारों-हजारों मयूर घेरे हैं। प्रत्येक मयूरकी पूँछ फैली हुई कितनी सुन्दर लगती है। हजारों-हजारों मयूर चारों ओर खड़े होकर केवल पूँछ फैलाये देख ही नहीं रहे हैं; अपितु उनकी वंशीकी तानके साथ-साथ ताल देकर नाच रहे हैं। इन सबको नाचते देखकर श्रीगोपाङ्गनाएँ बोलीं—'मयूर क्यों नाचे?' एक कहने लगी कि श्रीकृष्ण एक तो स्वयमेव आकर्षक हैं ही, दूसरे इनके वेणुनादमें भी इतना आकर्षण है जो सारे जीवोंको मोहित कर ले। एक उत्प्रेक्षा यह भी है कि मयूर मेघके प्रेमी होते हैं। श्यामसुन्दरका मेघ-वर्ण है—नव-नीरद-वर्ण है। मेघ जब मन्द-मन्द गर्जना करते हैं तो मयूर नाचते हैं। उन्हें श्यामसुन्दर मेघरूप दिखायी दिये और उनका वेणु-रव मेघोंकी मन्द मधुर गर्जनाके समान लगा। मेघप्रेमी और मेघकी गर्जनापर बादलके मृदु-मृदु बजनेपर नाचनेवाले मयूर स्वाभाविक वहाँ आ गये, परंतु इस मेघको देखकर वे बड़े चमत्कृत हुए। उन्हें लगा कि यह नवीन मेघ भिन्न प्रकारका है, जिसमें उस मेघकी अपेक्षा अनन्त-अनन्त-गुना अधिक आकर्षण है।

भगवान् शंकरके डमरूकी ध्वनि वेणु-रवसे ही निकली है। यह मूलनाद वेणुका ही है। वृन्दावनमें साक्षात् श्रीकृष्णके सामने स्वाभाविक रूपसे मयूरगण परम आनन्दमें नृत्य करने लगे। इनके नृत्यको देखकर वनके अन्य पशु-पक्षियोंमें भी मुरली बजनेपर प्रेमका विकार हो गया। वे अपने आपेमें नहीं रहे। वेणुनाद जहाँतक पहुँचा, वहाँतक वृक्षोंसे रस झरने लगा। पशु-पक्षी जड़वत् हो गये। चेतन जड़ हो गये। जड़ चेतन हो गये। सब-के-सब पशु-पक्षी वेणुनादके साथ मयूरोंका नृत्य देखकर परमानन्दमें निर्वाक् एवं निस्पन्द हो गये। उनका हिलना-डुलना, बोलना बंद हो गया और वे सभी निकटवर्ती गोवर्धन पर्वतपर जाकर ध्यानस्थ हो गये। मुरलीके रवके साथ वे मानो मुरलीके गानको पीने लगे।

मुरलीके गान-रसमें मत्त पशु-पक्षियोंके कारण वनभूमिकी अपूर्व शोभा हुई, जिसे देखकर ऐसा लगता था मानो बड़ा भारी नाट्यका दरबार हो रहा है। नाट्यके दरबारमें दो वस्तुएँ होती हैं—वाद्य और नृत्य। भगवान्का वंशी-निनाद या वंशी-वाद्य सारे वाद्योंका मूल है। श्यामसुन्दर जो चाहें, जैसी चाहें इसमें

राग निकालते हैं। ये सारे रस भगवान्में हैं। उनका अधरामृत, उनका ही अधररस वंशीमेंसे निकलता है। विभिन्न रसमय राग उसमेंसे निस्सृत हो रहे हैं। वंशी-वाद्य तथा मयूरोंका नृत्य और गान दोनों हो रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि गान और नाचके इस दरबारमें वनके पशु-पक्षी और श्रीकृष्णके समवयस्क गोपबालक हैं। ये इस दरबारके सभासद् हैं। ये सभी नाट्यसभा-अधिवेशनमें खड़े होकर दर्शन कर रहे हैं। नाच-गानके दरबारमें कोई चुपचाप बैठकर सुननेवाला भी तो चाहिये। ये सभी एवं गायें भी मुग्ध होकर वहाँपर खड़ी हो गयीं और तृण चरना बंद कर दिया। साथके छोटे-छोटे बछड़ोंने भी दूध पीना बंद कर दिया। सब-के-सब आँख लगाये उस नृत्यको देख रहे हैं और गान सुन रहे हैं।

मयूरोंका बड़ा सुन्दर नृत्य होने लगा। नृत्यमें जब ठीक भावका प्राकट्य हो जाता है, तब नाचनेवाला अपनेको भूल जाता है। उस समय नाचनेकी भाव-भंगिमा स्वाभाविक होती है। नाचनेवालेके कपड़े अस्त-व्यस्त होने लगते हैं। मयूरोंकी पूँछके ही उनके कपड़े हैं। नाचते हुए मयूरोंके पिच्छ झर-झरकर गिरने लगे। जब किसी बजानेवालेपर नाचनेवाला रीझ जाता है, तब कुछ पुरस्कार दिया करता है; क्योंकि यदि वाद्य न बजे तो नाचनेवालेका नाच हो ही नहीं। बिना वाद्यके नाच नहीं होता। श्रीकृष्णके मुरली-वाद्यकी ध्वनि मयूरोंके नृत्यमें कारण है। मयूरोंने देखा कि श्रीकृष्णने हमपर बड़ा उपकार किया है, जो हमें अपनी नृत्यकला दिखानेका अवसर दिया है, अतः इस बजानेवालेको कुछ पुरस्कार मिलना चाहिये। मयूरोंने सोचा कि अपने पास धन-दौलत तो कुछ है नहीं, जिसे पुरस्कारमें दें। मयूरके पैर बड़े भद्दे और पुच्छ सबसे अधिक सुन्दर होते हैं। जब वे चँदोवा तानकर खड़े होते हैं, उस समय उनके पिच्छकी सतरंगी शोभाको देखकर लोग चकित हो जाते हैं। मयूरोंने विविध रंग-रञ्जित सुरञ्जित पुच्छ गिरा-गिराकर श्याम-सुन्दरको प्रदान कर दिये। मयूरोंका उद्दाम नृत्य होने लगा। पिच्छ गिरने लगे।

भले एवं विशिष्ट लोगोंमें यह एक स्वाभाविक प्रथा है कि किसीकी दी हुई वस्तुओंको सिर चढ़ा लेते हैं। उपहारमें मिली हुई वस्तु लेकर केवल रख ली तो उसका अपमान है। बड़े प्रेमसे, आदरसे, हृदयसे, स्नेहसे, अमृतसे सानकर दी हुई वस्तुको अपने गर्वमें लेकर यदि केवल रख लिया तो वह देनेवाला हतप्रभ हो जाता है एवं सोचने लगता है कि इतने प्रेमसे दिये हुए पुरस्कारका उचित आदर ही नहीं हुआ, परंतु श्रीकृष्णके समान आदर करनेवाला प्रेमी दूसरा है कौन? प्रेमका सारा-का-सारा पाठ इनसे ही पढ़नेमें आता है। श्यामसुन्दरने सोचा कि मयूरोंने जो हमें पारितोषिक रूपमें पिच्छ दान दिये हैं, इन्हें तो सिर चढ़ाकर लेना चाहिये। एक बार सिर चढ़ाकर फिर उसे फेंक देना तो आदरका दिखावा मात्र है। यही सोचकर श्रीकृष्णने सदैवके लिये मयूर-पिच्छको सिरपर धारण कर लिया। उसी दिनसे श्रीकृष्ण मयूर-पिच्छको विशेष रूपसे धारण करने लगे। यद्यपि मैया तथा सखियाँ सजानेके लिये पहले भी मोर-पिच्छ लगा दिया करती थीं तथापि आज तो श्रीश्यामसुन्दरने स्वयं उसे पारितोषिक मानकर अपने मस्तकपर सदाके लिये धारण कर लिया। उसके धारण करते ही मयूरोंके आनन्दका ठिकाना नहीं रहा; क्योंकि उनके पहनावको इन्होंने स्वीकार कर लिया। ग्रहण करनेवालेकी अपेक्षा दाताकी प्रशंसा ही अधिक होती है। मनसे, प्रेमसे किसी वस्तुको देनेपर यदि कोई आदर और प्रेमसे स्वीकार करे, सिर चढ़ा ले, अपना मुकुट बना ले तो देनेवाला कृतार्थ हो जाता है। मयूरोंके आनन्दकी सीमा नहीं थी, वे स्वयंको

कृतार्थ अनुभव करने लगे। भगवान्‌की इस उदारताको देखकर मयूरोंमें नृत्यकी भंगिमा और बढ़ने लगी। वे आनन्दमें भरकर नृत्य करने लगे। लीला एवं नृत्यको देखकर वनके स्थावर-जङ्गम सभी प्राणी मुग्ध हो गये। श्यामसुन्दर इतने ऊँचे और महान् होकर भी इनकी पूँछको सिरपर चढ़ा लेते हैं, उनकी इस उदारताको देखकर परम आनन्दका विस्तार हो गया।

श्रीकृष्ण-गतप्राणा कृष्णात्मिका भावमयी श्रीगोपाङ्गनाओंका मन अपने भाव-नेत्रोंसे वृन्दावनकी वनभूमिकी शोभा और श्रीसौभाग्य-सम्पत्तिको देखा; पर तृप्त नहीं हुआ। जिससे मन भर जाय वह वस्तु होती है लौकिक—संसारकी। प्रकृतिकी बनी हुई कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो सदा सामने रहनेपर भी निरन्तर उत्तरोत्तर अधिक-से-अधिक आनन्द देती रहे। ऐसी वस्तु है ही नहीं। मनोवाञ्छित वस्तु जबतक नहीं मिलती तबतक उत्कण्ठा बनी रहती है, मिलनेके बाद कुछ दिनोंतक उसके साथ आनन्दका अनुभव होता है। पुरानी हो जानेपर सदा साथ रहनेसे उस वस्तुकी उपेक्षा हो जाती है, तब उसका कोई महत्त्व नहीं रह जाता। प्रकृतिके वस्तुओंका यह स्वभाव है। भगवान्‌से सम्बन्धित वस्तुमें दिव्यता और नित्य-नवायमानता बनी रहती है। नित्य-नव-वर्धनशील प्रेमके समान भगवान्‌का सौन्दर्य-माधुर्य भी नित्य-नववर्धनशील है। उनकी लीलाके उपकरण भी नित्य शोभा-सम्पन्न हैं। व्रजाङ्गनाओंने व्रजभूमिमें वृन्दावनकी शोभाको देखा और देखते-देखते वे तृप्त नहीं हुईं। पुनः-पुनः देखने और सतत देखते रहनेकी लालसा बढ़ जानेपर वे परस्परमें कहने लगीं—'सखी! देखो न, हमारा जन्म तो विफल हो गया; क्योंकि हम तो घरके कैदखानेमें बंद हैं, अतः आनन्दका उपभोग कर नहीं सकतीं। सौभाग्य तो उनका है जो समीप खड़े रहकर उन नवनीलनीरद-वर्ण भगवान् श्यामसुन्दरके अनुपम अतुलनीय सौन्दर्य-माधुर्यको नयनभर देखकर भी अतृप्त रहते हैं। हम तो यहाँ दूरसे भाव-नेत्रोंसे ही देख रही हैं। हम पासमें नहीं हैं, इस कारण न तो हम नेत्रभर कर उनके सौन्दर्य-माधुर्यका दर्शन कर सकती और न पास खड़ी रहकर यह मुरली-रव सुन सकती हैं। भगवान्‌के सम्पर्कमें आये हुए वे जड़ पशु-पक्षी सभी महान् हैं। भगवान्‌के सम्पर्कसे रहित देवता, ऋषि-मुनि कहलानेवाले प्राणी भी वास्तवमें भाग्यहीन हैं। उनका सङ्ग नहीं करना चाहिये।' (क्रमशः)

रामायणसे उच्च भावोंका प्रादुर्भाव

जगत्‌में अनेक काव्य-ग्रन्थ हैं, परंतु आचार और काव्यको कोई भी कवि इस प्रकारकी दृढ़ता, मनोहरता और रसिकतासे नहीं बाँध सका। ऐसे प्रभावशाली ढंगसे धर्मका सजीव उपदेश देना एक रामायणका ही काम है। यही एक काव्य है, जो हमारे हृदयोंमें सत्यके प्रेमको ऐसी उत्तमतासे उत्पन्न कर देता है कि हम रामायणको पढ़कर कुछ-से-कुछ बन जाते हैं। हममें ऊँचे-ऊँचे भाव उत्पन्न हो जाते हैं और वे सब गुण, जो मनुष्यकी उत्कृष्टताके आभूषण हैं, हमारे सामने आकर खड़े हो जाते हैं। सत्याचरण, पितृभक्ति, पातिव्रत-धर्म, पति-धर्म, पिता-माताका स्नेह, विनय, धैर्य, दयालुता आदि मानव-गुणोंका ऐसा कौन-सा चित्र है, जिसके यथार्थ स्वरूपको कविने इस ग्रन्थमें अपनी जादू-भरी लेखनीसे चित्रित न किया हो। रामायणको देखनेसे प्रतीत होता है कि इसकी उत्पत्ति भारतके प्राचीनतम एवं आन्तरिक भावोंसे हुई है। अतः इनसे अधःपतित अवस्थामें पड़े हुए सभी लोगोंको पुनर्जीवन प्राप्त होता है।—

—ग्रीफिथ

राम-नाम-प्रश्नोत्तरी

कौन छत्र वह, जिसके धारणसे न सताता माया-घाम ?
राम राम है, राम राम है, राम राम है राघवराम ॥ १ ॥
कौन नाम वह पावन, जिससे सीधा और नहीं है नाम ?
राम राम है, राम राम है, राम राम है राघवराम ॥ २ ॥
कौन गूँज, जो गूँज रही है शंकरके मन आठों याम ?
राम राम है, राम राम है, राम राम है राघवराम ॥ ३ ॥
कौन तीर्थ वह, जिसमें बसते अड़सठ तीरथ चारों धाम ?
राम राम है, राम राम है, राम राम है राघवराम ॥ ४ ॥
कौन मन्त्र वह, जिसे जप रहे अष्टादश छः ऋक् यजु साम ?
राम राम है, राम राम है, राम राम है राघवराम ॥ ५ ॥
कौन योग वह, योगी जिसपर वार फेंकते प्राणायाम ?
राम राम है, राम राम है, राम राम है राघवराम ॥ ६ ॥
कौन कर्म वह, त्रैकालोंमें जिसका सुखदायक परिणाम ?
राम राम है, राम राम है, राम राम है राघवराम ॥ ७ ॥
कौन मेघ वह, जिसमें लसती मुक्ति निरन्तर विद्युत्-दाम ?
राम राम है, राम राम है, राम राम है राघवराम ॥ ८ ॥
कौन देव वह, जिसके भयसे होता सरल विधाता वाम ?
राम राम है, राम राम है, राम राम है राघवराम ॥ ९ ॥
कौन त्रिशूली, जिसके भयसे खड़ा काँपता है खल काम ?
राम राम है, राम राम है, राम राम है राघवराम ॥ १० ॥
कौन सुसाधन है वह, जिससे होते सिद्ध सहज सब काम ?
राम राम है, राम राम है, राम राम है राघवराम ॥ ११ ॥
कौन अमृत वह, जिसको पीकर पाते जन अमरत्व ललाम ?
राम राम है, राम राम है, राम राम है राघवराम ॥ १२ ॥
कौन भुवन वह, जिसमें बस कर पाता जीव सहज विश्राम ?
राम राम है, राम राम है, राम राम है राघवराम ॥ १३ ॥
कौन वर्ण, जो चार वर्णके दूषण हर भूषण अभिराम ?
राम राम है, राम राम है, राम राम है राघवराम ॥ १४ ॥
शबरीने जो शास्त्र पढ़ा था बतलाना तू तुलसीराम ?
राम राम है, राम राम है, राम राम है राघवराम ॥ १५ ॥
कौन नमन वह, जिसमें सारे देवोंको साष्टाङ्ग प्रणाम ?
राम राम है, राम राम है, राम राम है राघवराम ॥ १६ ॥

—'दिनेश'

साधकोंके प्रति--

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[प्रतिकूलतामें विशेष भगवत्कृपा]

मनुष्य अनुकूलताको तो चाहता है, पर प्रतिकूलताको नहीं चाहता—यह उसकी कायरता है। अनुकूलताको चाहना ही खास बन्धन है। इसके सिवाय और कोई बन्धन नहीं है। इस चाहनाको मिटानेके लिये ही भगवान् बहुत प्यार और स्नेहसे प्रतिकूलता भेजते हैं। यदि जीवनमें प्रतिकूलता आये तो समझना चाहिये कि मेरे ऊपर भगवान्की बहुत अधिक, दुनियासे निराली कृपा हो गयी है। प्रतिकूलतामें कितना आनन्द, शान्ति, प्रसन्नता है, क्या बताऊँ ? प्रतिकूलताकी प्राप्ति मानो साक्षात् परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति है। भगवान्ने कहा है—**'नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु'** (गीता १३। ९)। प्रतिकूलता आनेपर प्रसन्न रहना—यह समताकी जननी है। गीतामें इस समताकी बहुत प्रशंसा की गयी है।

भगवान् विष्णु सर्वदेवोंमें श्रेष्ठ तभी हुए, जब भृगुजीके द्वारा छातीपर लात मारनेपर भी वे नाराज नहीं हुए। वे तो भृगुजीके चरण दबाने लगे और बोले कि 'भृगुजी ! मेरी छाती तो बड़ी कठोर है और आपके चरण बहुत कोमल हैं; आपके चरणोंमें चोट आयी होगी !' उन्हीं भगवान्के हम अंश हैं—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५। ७)। उनके अंश होकर भी हम इस प्रकार छातीपर लात मारनेवालेका हृदयसे आदर नहीं कर सकते तो हम क्या भगवान्के भक्त हैं ? प्रतिकूलताकी प्राप्तिको स्वर्णिम अवसर मानना चाहिये और नृत्य करना चाहिये कि अहो ! भगवान्की बड़ी भारी कृपा हो गयी। ऐसा कहनेमें संकोच होता है कि इस स्वर्णिम अवसरको प्रत्येक आदमी पहचानता नहीं। यदि किसीको कहें कि 'तुम पहचानते नहीं हो', तो उसका निरादर होता है। अगर ऐसा अवसर मिल जाय और उसकी पहचान हो जाय कि इसमें भगवान्की बहुत विशेष कृपा है तो यह बड़े भारी लाभकी बात है।

गीतामें आया है कि जिसका अन्तःकरण अपने वशमें है, ऐसा पुरुष राग-द्वेषरहित इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका सेवन करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है; और प्रसन्नता प्राप्त होनेपर उसकी बुद्धि बहुत जल्दी परमात्मामें स्थिर हो जाती है (२। ६४-६५)। जो प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थितिमें प्रसन्न रहे, उसकी बुद्धि परमात्मामें बहुत जल्दी स्थिर होगी। कारण कि प्रतिकूलतामें होनेवाली प्रसन्नता समताकी माता (जननी) है। अगर यह प्रसन्नता मिल जाय तो समझना चाहिये कि समताकी तो माँ मिल गयी और परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिकी दादी मिल गयी। दादी कह दो या नानी कह दो।

प्रतिकूलताकी प्राप्तिमें भगवान्की बड़ी विचित्र कृपा है, मुख्य कृपा है; परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि आप प्रतिकूलताकी चाहना करें। चाहना तो अनुकूलता और प्रतिकूलता—दोनोंकी ही नहीं करनी चाहिये, प्रत्युत भगवान् जो परिस्थिति भेजें, उसीमें प्रसन्न रहना चाहिये। यदि भगवान् प्रतिकूलता भेजें तो समझना चाहिये कि उनकी बहुत कृपा है। वाल्मीकि-रामायणके अरण्यकाण्डमें आया है—

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥

(३७। २)

संसारमें प्रिय वचन बोलनेवाले पुरुष तो बहुत मिलेंगे, पर जो अप्रिय होनेपर भी हितकारी हो, ऐसी बात कहने और सुननेवाले दुर्लभ हैं। एक मारवाड़ी कहावत है—'सती देवे, संतोषी पावे। जाकी वासना तीन लोकमें जावे॥' भिक्षा देनेवाली सती-साध्वी स्त्री हो और भिक्षा लेनेवाला संतोषी हो, तो उसकी सुगन्ध तीनों लोकोंमें फैलती है। ऐसे ही देनेवाले भगवान् हों और लेनेवाला भक्त हो अर्थात् भगवान् विशेष कृपा करके प्रतिकूलता भेजें और भक्त उस प्रतिकूलताको स्वीकार करके मस्त हो जाय, तो इसका असर संसारमात्रपर पड़ता है।

दुःखके समान उपकारी कोई नहीं है; किंतु मुश्किल यह है कि दुःखका प्रत्युपकार कोई कर नहीं सकता। उसके तो हम ऋणी ही बने रहेंगे; क्योंकि दुःख बेचारेकी अमरता नहीं है। वह बेचारा सदा नहीं रहता, मर जाता है। उसका तर्पण नहीं कर सकते, श्राद्ध नहीं कर सकते। उसके तो ऋणी ही रहेंगे। इसलिये दुःख आनेपर भगवान्‌की बड़ी कृपा माननी चाहिये। छोटा-बड़ा जो दुःख आये, उस समय नृत्य करना चाहिये कि बहुत ठीक हुआ। इस तत्त्वको समझनेवाले मनुष्य इतिहासमें बहुत कम हुए हैं। माता कुन्ती इसे समझती थीं, इसलिये वे भगवान्‌से वरदान माँगती हैं—

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥
(श्रीमद्भा० १।८।२५)

'हे जगद्गुरो! हमारे जीवनमें सर्वदा पद-पदपर विपत्तियाँ आती रहें, जिससे हमें पुनः संसारकी प्राप्ति न करानेवाले आपके दुर्लभ दर्शन मिलते रहें।'

माता कुन्ती विपत्तिको अपना प्यारा सम्बन्धी समझती हैं; क्योंकि इससे भगवान्‌के दर्शन मिलते हैं। अतः विपत्ति भगवद्दर्शनकी माता हुई कि नहीं? इसलिये दुःख आना मनुष्यके लिये बहुत आनन्दकी बात है। दुःखमें प्रसन्न होना बहुत ऊँचा साधन है। इसके समान कोई साधन नहीं है।

यदि साधक परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति चाहे तो वह सुख-दुःखसे ऊँचा उठ जाय—**'सुखदुःखे समे कृत्वा'** (गीता २।३८)। सुखकी चाहना करते हैं, पर सुख मिलता नहीं और दुःखकी चाहना नहीं करते, पर दुःख मिल जाता है। अतः दुःखकी चाहना करनेसे दुःख नहीं मिलता, यह तो कृपासे ही मिलता है। सुखमें तो हमारी सम्मति रहती है, पर दुःखमें हमारी सम्मति नहीं रहती। जिसमें हमारी सम्मति, रुचि रहती है, वह चीज अशुद्ध हो जाती है। जिसमें हमारी सम्मति, रुचि नहीं है, वह चीज केवल भगवान्‌की शुद्ध कृपासे मिलती है। जो हमारे साथ द्वेष रखता है, हमें दुःख देता है, उसका उपकार हम कर नहीं सकते। हमारा उपकार वह स्वीकार नहीं करेगा। वह तो हमें दुःखी करके प्रसन्न हो जाता है। हमारे द्वारा बिना कोई चेष्टा किये दूसरा प्रसन्न हो जाय तो कितने आनन्दकी बात है। अतः सज्जनो! आगेसे मनमें पक्का विचार कर लेना चाहिये कि हमें हर हालतमें प्रसन्न रहना है। चाहे अनुकूलता आये, चाहे प्रतिकूलता आये, उसमें हमें प्रसन्न रहना है; क्योंकि वह भगवान्‌का भेजा हुआ कृपापूर्ण प्रसाद है।

सेवाकी पगडंडियाँ

(संकलन-कर्ता—वैद्य बदरुद्दीन राणपुरी)

१—सत्कर्मोंकी सेवा भविष्यपर मत टालो, अभी-अभी करो। कल तुम जीवित ही रहोगे, इसका क्या विश्वास है ?

२—मुझे लोकोपयोगी कार्य करने हैं, इतनी लगन लगते ही बहुत-से सत्कर्म करनेकी शक्ति, जो तुममें छिपी हुई है, प्रकट हो जायगी ।

३—जहाँ-जहाँ दृष्टि जाती है, वहाँ-वहाँ सेवा करनेके छोटे-बड़े अवसर होते हैं; उन्हें हाथसे निकलने नहीं देना चाहिये ।

४—सेवा-पूजाका सुअवसर प्राप्त होनेपर प्रभुका तथा प्रभुके अन्यरूप सेवा स्वीकार करनेवालेका भी हृदयसे आभार मानना चाहिये ।

५—'अमुक कार्य अच्छा है'—ऐसा निश्चय होनेपर उस सत्कर्मके करनेमें एक पलका भी विलम्ब नहीं लगाना चाहिये।

६—जिस दिन एक भी सत्कर्म न मिले, उस दिनको बाँझ मानना चाहिये । आजसे संकल्प कीजिये—'नित्यप्रति एक या दो सेवाके कार्य अवश्य करूँगा ।' प्रतिदिन तीन सत्कर्म करनेसे वर्षमें लगभग एक हजार सत्कर्मोंका भंडार भर जाता है ।

७—खेतमें बोये हुए सभी बीज अङ्कुरित नहीं होते, परंतु जीवनमें किये गये सत्कर्मोंका एक भी बीज व्यर्थ नहीं जाता, यह निश्चय मानना चाहिये ।

८—प्रसन्नचित्तसे सेवा करनेवालेकी रात्रि शान्तिपूर्वक व्यतीत होती है । लोक-कल्याणके लिये जीनेवालेकी मृत्यु मङ्गलमय होती है।

९—जो अन्यको संतुष्ट करता है, उसे भगवान् संतुष्ट करते हैं ।

१०—स्मरण रखिये कि हमसे अधिक बलवान् ईश्वर हम सबको सेवा करनेकी शक्ति देते रहते हैं । हम तो उनके प्रतिनिधि मात्र हैं, फिर सेवाका अभिमान क्यों करें !

११—प्रत्येक पल परोपकारमें बीते, इसके लिये सदैव सावधान रहें ।

१२—सेवा स्वीकार करनेवालेपर हम परोपकार करते हैं, ऐसी भावना अपने या उसके मनमें उत्पन्न न होने दें । चित्तशुद्धिके लिये ही सत्कार्य करते रहें ।

१३—सेवाधर्म स्वीकार करनेवालेका एक पल भी प्रमादमें नहीं जाना चाहिये। निश्चय कीजिये कि प्रभुप्रदत्त आयुष्यकी भेंट हम ऊँचे-से-ऊँचे कार्योंमें ही करेंगे ।

१४—आजसे प्रतिज्ञा कीजिये कि किसीकी सेवा करनेसे चित्त नहीं चुरायेंगे, पैर पीछे नहीं रखेंगे तथा किसीसे सेवा लेनेकी आशा नहीं रखेंगे ।

१५—परपीड़ासे दुःखी होकर, बदलेमें प्रत्युपकारकी आशा न रखकर दूसरेकी पीड़ाको दूर करनेके लिये जो क्रिया होती है, वह सच्ची सेवा होती है ।

१६—सत्ता और सम्पत्तिके लिये आपकी चापलूसी करनेवाले तो बहुत मिल जायँगे; परंतु मनुष्योंका प्रेम और सद्भाव तो अपने सद्गुणों और निःस्वार्थ सेवाद्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है ।

१७—सत्कर्म करनेवाले प्रत्येक व्यक्तिको प्रोत्साहन देना परम पुण्यका कार्य है ।

१८—जीवनमें स्वयं जो सुख प्राप्त किया हो, उसकी चाभी बिना संकोचके दूसरोंको बताना सर्वोत्तम भेंट है ।

१९—स्नानसे तन, ध्यानसे मन और दानसे धनकी शुद्धि होती है । इसलिये जो भी दिया जाय, प्रेमसे दिया जाय; जिससे वह शीघ्र अङ्कुरित होने लगे ।

२०—न्यायपूर्वक धन पैदा करके गरीबोंकी सेवामें आयका दसवाँ भाग नित्यप्रति नियमित लगाना चाहिये । इससे सुख-सम्पत्तिकी वृद्धि होती है और चित्त शुद्ध होता है—ऐसा शास्त्रोंके वचन हैं तथा अनेक महापुरुषोंके अनुभव हैं ।

२१—सुख देनेसे बढ़ता रहता है। धन सत्कार्योंमें जितना लगाया जाता है, उतना स्वच्छ होता है और बढ़ता जाता है।

ब्रह्मा-विष्णु-महेशमें कौन श्रेष्ठ हैं ?

(स्वामी श्रीशंकरानन्दजी सरस्वती)

शङ्का—वर्तमानमें ब्रह्माकी उपासनाका प्रचलन न होनेसे 'ब्रह्मा ही सर्वश्रेष्ठ हैं' ऐसा कहनेवाला तो कोई हमें नहीं मिला। 'श्रीराम और श्रीकृष्णको विष्णुरूप या विष्णुके अवताररूपमें माननेके कारण इनमें कौन श्रेष्ठ हैं?' यह प्रश्न भी कोई नहीं उठाता; परंतु भगवान् शिव तथा भगवान् विष्णुकी उपासनाका प्रचलन बहुत हैं। कुछ शैवाचार्य भगवान् शिवको ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, अतः वे भगवान् विष्णुकी उपासना, उनके मन्दिरमें जाकर दर्शन करना, उनके नामका जप करना आदि कार्य नहीं करते और अपने शिष्योंको भी यही सिखाते हैं एवं कुछ वैष्णवाचार्य भगवान् विष्णुको ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, अतः वे भगवान् शिवकी उपासना, उनके मन्दिरमें जाकर दर्शन करना, उनका नाम-जप करना आदि कार्य नहीं करते और अपने शिष्योंको भी ऐसी ही शिक्षा देते हैं। ऐसे लोग हमें मिले भी हैं। अतः यह शङ्का होती है कि ब्रह्मा-विष्णु-महेशमें कौन सर्वश्रेष्ठ हैं ? कृपया इसका समाधान शास्त्रप्रमाणपूर्वक देनेकी कृपा करें।

समाधान—ब्रह्मा-विष्णु-महेशकी सिद्धिमें तथा इनकी श्रेष्ठतामें शास्त्रप्रमाणके अतिरिक्त और कोई प्रमाण न होनेसे शास्त्रप्रमाणपूर्वक समाधानकी प्रार्थना सर्वथा उचित है।

आपने जैसी शङ्का की है, वैसी ही शङ्का स्कन्द-पुराणमें करंधमजीद्वारा किये जानेपर महाकालने जो उत्तर दिया है, उसे मनोयोगपूर्वक पढ़नेसे आपकी शङ्काका समाधान शास्त्रप्रमाणपूर्वक हो जायगा। अतः उन श्लोकोंको अर्थसहित यहाँ दिया जा रहा है—

करंधम उवाच

केचिच्छिवं समाश्रित्य विष्णुमाश्रित्य वेधसम्।
वर्णयन्ति पदे मोक्षं त्वं तु कस्मान्नु मन्यसे॥

करंधमने पूछा—कोई शिवका समाश्रय लेकर, कोई विष्णुका आश्रय लेकर, कोई ब्रह्माका आश्रय लेकर मोक्षका वर्णन करते हैं, आप किससे मानते हैं ?

महाकाल उवाच

पुरा किलैवं मुनयो नैमिषारण्यवासिनः।
संदिह्यान्तः श्रेष्ठतायां ब्रह्मलोकमुपागमन्॥
तस्मिन् क्षणे विरिञ्चोऽपि श्लोकं प्रह्वोऽब्रवीत् किल।
अनन्ताय नमस्तस्मै यस्यान्तो नोपपद्यते॥
महेशाय च भक्ते द्वौ कृपायेतां सदा मयि।
ततः श्रेष्ठं च तं मत्वा क्षीरोदं मुनयो ययुः॥
तत्र योगेश्वरः श्लोकं प्रबुध्यन्नमुमब्रवीत्।
ब्रह्माणं सर्वभूतेषु परमं ब्रह्मरूपिणम्॥
सदाशिवं च वन्दे तौ भवेतां मङ्गलाय मे।
ततस्ते विस्मिता विप्रा अपसृत्य ययुः पुनः॥
कैलासे ददृशुः स्थाणुं वदन्तं गिरिजां प्रति।
एकादश्यां प्रनृत्यानि जागरे विष्णुसद्मनि॥
सदा तपस्यां चरामि प्रीत्यर्थं हरिवेधसोः।
श्रुत्वेति चापसृत्येदं खिन्नास्ते मुनयोऽब्रुवन्॥
यद्वा देवा न संयान्ति पारं ये च परस्परम्।
तत्सृष्टसृष्टसृष्टेषु गणना कास्मदादिषु॥
उत्तमाधममध्यत्वमर्माषां वर्णयन्ति ये।
असत्यवादिनः पापास्ते यान्ति निरयं ध्रुवम्॥

× × × ×

तस्माद्यस्य मनोरागो यस्मिन् देवे भवेत् स्फुटम्।
स तं भजेद् विपापः स्यान्ममेदं मतमुत्तमम्॥

(स्कन्द० मद्दे० कौमारिका० ४१ । १-१४)

महाकाल बोले—(ब्रह्मा-विष्णु-महेशकी) श्रेष्ठतामें इसी प्रकार संदेह करके नैमिषारण्यवासी मुनि पूर्वकालमें ब्रह्मलोक गये। उसी क्षण ब्रह्माजी नम्रतापूर्वक बोले—'जिनका अन्त नहीं, उन अनन्त (विष्णु)को और महेशको नमस्कार है। वे दोनों मुझपर सदा कृपा करें।' तब वे मुनि उन्हें श्रेष्ठ मानकर क्षीरसागर गये। वहाँ जागते हुए योगेश्वर (विष्णु)ने यह श्लोक कहा—'मैं सर्वभूतोंमें श्रेष्ठ ब्रह्मरूप ब्रह्मा और सदाशिवकी वन्दना करता हूँ। वे दोनों मेरा मङ्गल करें।' तब मुनि विस्मित हो वहाँसे हटकर कैलास गये। वहाँ जाकर देखा कि शंकरजी गिरिजासे कह रहे हैं—'विष्णु और ब्रह्माकी प्रसन्नताके लिये मैं सदा एकादशीको जागकर विष्णु-मन्दिरमें नृत्य करता हुआ तपस्या करता हूँ।'

(ब्रह्मा-विष्णु-महेशके) ये वचन सुनकर वहाँसे हटकर खिन्न हुए मुनि बोले—'जब ये देव ही परस्पर एक-दूसरेके पारको नहीं पाते, तब उनके पुत्र-पौत्र-प्रपौत्ररूप हमलोगोंकी क्या गणना है? अतः इनमें उत्तम-मध्यम-अधम भावका जो वर्णन करते हैं, वे असत्यवादी पापी निश्चय ही नरकमें जाते हैं। इसलिये जिसके मनका अनुराग जिस देवमें स्फुट हो, वह उस देवको भजे, इससे वह पापरहित हो जाता है। यही मेरा उत्तम मत है।'

शङ्का—पुराणोंमें ब्रह्मा-विष्णु-महेशकी परस्पर एक-दूसरेसे उत्पत्तिका वर्णन करनेवाले वचन भी मिलते हैं तथा परस्पर एक-दूसरेकी आराधना करके सिद्धि-प्राप्तिके भी वचन मिलते हैं। एकको मोक्षदाता तथा दूसरेको मोक्ष-अदाता भी कहा गया है। इन्हें समान माननेवालोंकी निन्दा भी की गयी है। ऐसे सभी वचनोंका क्या तात्पर्य है?

समाधान—इन शङ्काओंका समाधान पुराणोंके विद्वान् दो प्रकारसे करते हैं—(१) अपने-अपने इष्टदेवमें पूर्ण निष्ठा करानेके लिये ही ऐसा वर्णन पुराण करते हैं। (२) पुराणोंमें ब्रह्मा-विष्णु-महेशका वर्णन दो रूपोंमें मिलता है—एक-एक ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति, पालन, संहार करनेवाले अपर ब्रह्मा-विष्णु-महेश कहलाते हैं। कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, पालन, संहार करनेवाले पर ब्रह्मा-विष्णु-महेश कहे जाते हैं। इनमेंसे पर ब्रह्मा-विष्णु-महेशसे अपर ब्रह्मा-विष्णु-महेशकी उत्पत्तिका वर्णन किया गया है तथा परकी आराधना कर अपर सिद्धि प्राप्त करते हैं। परको ही मुक्तिदाता और अपरको मुक्तिका अदाता कहा गया है। पर और अपरको समान माननेवालोंकी ही निन्दा की गयी है।

पुराणोंके इस पर-अपर विभागके रहस्यको न समझनेके कारण ही विष्णु-शिवादिके उपासक अपने-अपने इष्टदेवको ही सर्वश्रेष्ठ तथा मोक्षदाता मानते हैं, पर वस्तुतः ब्रह्मा-विष्णु-महेशमें कोई भेद नहीं, कोई श्रेष्ठ या हीन नहीं। यही सत्य सिद्धान्त है। इसीका वर्णन स्कन्दपुराणके उपरिलिखित श्लोकोंमें अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें किया गया है। किसी एकको श्रेष्ठ माननेवाले आचार्यों तथा उनके अनुयायियोंको उपरिलिखित स्कन्दपुराणके वचनोंपर गम्भीरतासे विचार करना चाहिये।

संतोंकी समता

वंदउँ संत समान चित हित अनहित नहिं कोइ।
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोइ॥

'मैं संतोंको प्रणाम करता हूँ, जिनके चित्तमें समता है, जिनका न कोई मित्र है और न शत्रु। जैसे अञ्जलिमें रखे हुए सुन्दर फूल [जिस हाथने फूलोंको तोड़ा और जिसने उनको रखा उन] दोनों हाथोंको समान रूपसे सुगन्धित करते हैं [वैसे ही संत शत्रु और मित्र दोनोंका ही समानरूपसे कल्याण करते हैं]।

परम धर्म श्रुति विदित अहिंसा

(श्रीगिरिराजकिशोरजी व्यास 'शास्त्री' एम्० ए० (हिंदी-संस्कृत); एम्० एड्०)

'हिंसा'शब्द 'हिसि हिंसायाम्' धातुमें 'टाप्' प्रत्ययके योगसे बना है, जिसका अर्थ होता है हत्या, वध, हानि पहुँचाना, अनिष्ट करना, चोरी करना, द्वेष एवं ईर्ष्या करना; भाव यह कि किसीको मन, वाणी और कर्मसे पीड़ा पहुँचाना अथवा दुःख देना 'हिंसा' के नामसे अभिहित किया जाता है; क्योंकि कोई भी व्यक्ति हिंसामें तीन प्रकारसे ही प्रवृत्त होता है—मनसा, वाचा तथा कर्मणा।

जब व्यक्ति किसी प्राणीका अनिष्ट, अपकार अथवा हानि मनसे विचारता है, तब उसे 'मानसिक हिंसा'के नामसे पुकारा जाता है। जब किसीको असत्य भाषणसे एवं कठोर वचनसे दुःखित किया जाता है, तब उसे 'वाचिक हिंसा' कहते हैं और जब व्यक्ति किसी जीवकी हत्या अथवा वध करता है, तब उसे 'कायिक हिंसा'की संज्ञासे अभिहित किया जाता है।

उपर्युक्त तीनों प्रकारकी हिंसाओंका परित्याग 'अहिंसा'-के अन्तर्गत आता है; अर्थात् मन, वाणी और शरीरसे दूसरेको पीड़ा न पहुँचाना या शास्त्र-विरुद्ध जीव-हत्या न करना तथा जीवोंको किसी भी प्रकारसे पीड़ा न देनेको ही 'अहिंसा' कहते हैं।

संसारके सभी धर्मोंमें 'अहिंसा'पर विशेष बल दिया गया है तथा उसका महत्त्व सर्वात्मना स्वीकार किया गया है। हमारे धर्मसर्वस्व यजुर्वेदमें 'अहिंसा'का महत्त्व निम्न लिखित शब्दोंमें व्यक्त है—

'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि'। किसी भी प्राणीकी हिंसा मत करो।

महान् ऐतिहासिक ग्रन्थ महाभारत (अनुशासनपर्व ११५। २३)में अहिंसाका महत्त्व इन शब्दोंमें निरूपित है—

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परं तपः।
अहिंसा परमं सत्यं ततो धर्मः प्रवर्तते॥

'अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम तप है और अहिंसा परम सत्य है; क्योंकि उसीसे धर्मकी प्रवृत्ति होती है।'

इसी प्रकार जैनधर्मके धार्मिक ग्रन्थ 'सूत्रकृताङ्ग', बौद्धधर्मके 'मज्झिम निकाय,' ईसाई-धर्मके धार्मिक ग्रन्थ 'बाइबिल' तथा पारसी-धर्मकी 'पहेलवी'में भी अहिंसा-धर्मका पूर्णरूपसे प्रतिपादन किया गया है।

यदि हम विवेक और सहृदयतापूर्वक विचार करें तो इसकी उपयोगिताएँ हमें मानव-जीवनमें बहुलतासे दृष्टिगत होती हैं। सच पूछें तो अहिंसा-वृत्ति ही मानवको सच्चे अर्थमें मानवता प्रदान करती है; क्योंकि हिंसा-वृत्ति तो मानवको दानवताकी ही ओर ले जाती है, जिससे उसमें मानवीय गुणोंका विकास नहीं हो पाता। ज्यों ही मनुष्य अहिंसा-वृत्ति ग्रहण करता है, उसमें दया, क्षमा, उदारता, पर-दुःखकातरता, सहिष्णुता, परोपकारिता, निरभिमानिता आदि मानवीय गुणोंका आविर्भाव हो जाता है।

'अहिंसा'से पशु और पक्षी भी मनुष्योंके प्रति प्रेम करते हैं, अहिंसा-रूपी शस्त्र-ग्रहणसे शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। इतना ही नहीं, मनुष्यकी आत्मा भी अहिंसासे सुखका अनुभव करती है। अहिंसाकी प्रतिष्ठासे सभी सर्वत्र सुखपूर्वक निर्भय विचरण करते हैं। यह तो सभी अनुभव करते हैं कि संसारमें कोई भी अपने विनाशकी इच्छा नहीं करता, सभी सुखपूर्वक जीनेकी उत्कण्ठा रखते हैं।

'अहिंसा'से मनुष्यकी धर्ममें प्रवृत्ति होती है; क्योंकि 'अहिंसा' एक सुव्यवस्थित धर्म-मार्ग है। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर हमारे धर्म-प्राण ऋषि-महर्षियों, भगवान् बुद्ध, महावीर तथा अन्य धर्माचार्योंने अहिंसाके प्रचार एवं प्रसारमें ही अपना अमूल्य जीवन होम दिया है, अतः हम सभीको सर्वदा सर्व-भावसे अहिंसा-वृत्तिको ग्रहण कर आत्म-कल्याण एवं लोक-कल्याण-हेतु सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये। इसीमें मानव-जीवनकी सार्थकता निहित है।

उद्धव-संदेश—२०

(डॉ० श्रीमहानामव्रतजी ब्रह्मचारी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

धीरे-धीरे श्रीराधाका दिव्योन्माद शान्त हुआ । प्रणयकोप और मान तिरोहित हुए एवं स्वाभाविक विरहका उदय हुआ । इतनी देरतक श्रीमान् उद्धव एक पार्श्वमें खड़े थे । अब धीरे-धीरे ससम्भ्रम श्रीराधाके समीपस्थ हुए । जैसे सागर-नदी-संगमपर तूफान उठनेपर माँझी अपनी नौकाको एक पार्श्वमें लगाकर रखता है, जिससे कि तरंगोंकी चपेटसे नौका टूटकर डूब न जाय, उसी प्रकार श्रीराधाके महाभाव-समुद्रकी उत्ताल तरंगोंको देखकर इतनी देरतक उद्धवजी भी दीनकी तरह एक पार्श्वमें दण्डायमान थे । किंचित् भावोपशम देखकर अब समीपवर्ती हुए ।

वे परम आनन्द, उल्लास एवं विस्मयसे अभिभूत होकर बोल उठे—'अहो !' जो कुछ देखा तथा सुना है उससे उद्धवजीके हृदयकी जो दशा हुई है, उसका उत्तम प्रकाशक यह 'अहो' शब्द ही है । इन दो अक्षरोंमें मानो भावराज्यका गम्भीर इतिहास छिपा पड़ा है । यह मानो अन्तस्तलका निरुपम उच्छ्वास हो । विस्मयकी स्तब्धता और आनन्दकी मुग्धता—इन दोनोंको वहन करके मानो उद्धवजीके कण्ठसे 'अ-हो' यह द्व्यक्षर अव्यय शब्द निकल पड़ा ।

रोरुद्यमान व्यक्तिके लिये सान्त्वना-वाक्य कहना कर्तव्य हो जाता है, किंतु उद्धवजीको विश्वभरकी भाषाओंमें भी विरहकी इन साकार मूर्तियोंको सान्त्वना देने योग्य शब्द नहीं मिले । सांसारिक लोग अपने प्रियजनोंके विरहमें कातर हो रहे हों तो उन्हें यह कहकर सान्त्वना दी जा सकती है कि 'इस जगत्के सारे सम्बन्ध मिथ्या हैं और परम पुरुषके साथका सम्बन्ध ही सत्य तथा आनन्दमय है ।'—ऐसा कहकर यदि उसके व्यावहारिक जगत्के सम्बन्धजन्य मोहको थोड़ी मात्रामें भी शिथिल कर दिया जाय तो शोकार्तका शोक थोड़ा-बहुत हल्का होना सम्भव भी है, किंतु इस प्रकारकी सान्त्वना इस क्षेत्रमें तो नहीं चल सकती । जिनके हृदयमें श्रीकृष्णके लिये इतनी तीव्र व्याकुलता हो, उन्हें किस प्रकार कहा जाय कि 'आप श्रीकृष्णके लिये विलाप न करें ।'—ऐसा कहना तो महान् अपराधका कार्य हो जायगा । कारण, श्रीकृष्णके लिये व्याकुलता ही जीवके जीवनका परम पुरुषार्थ है । वही पुरुषार्थ व्रजाङ्गनाओंने प्राप्त कर लिया है और मैं ऐसा नहीं कर पाया । इन्हें देखकर मनमें स्वयंके प्रति धिक्कारकी भावना जाग्रत् होती है । मैं इन्हें किस प्रकार कहूँ कि 'आप और अधिक विलाप न करें ।' इसके विपरीत मेरी तो यह कहनेकी इच्छा होती है कि 'और अधिक रुदन करें, जिससे मैं अपने नयनों एवं कर्णोंको सार्थक करूँ ।' ऐसा दुर्लभ भाव एवं भाषा अनन्त विश्वभरमें कहीं अन्यत्र तो मिलनेकी नहीं ।

उद्धवजी बोले—आपलोगोंकी उपमा आप ही हैं, आप निरुपमा हैं । आपके भावकी कोई तुलना नहीं । आप 'पूर्णार्थी' हैं । समस्त पुरुषार्थोंका शिरोमणि है श्रीकृष्ण-प्रेम, जिससे आप परिपूर्ण हैं । दूसरोंको इस सम्पद्की प्राप्तिके लिये न जाने कितनी साधना करनी पड़ती है और आपकी तो यह निजस्व-सम्पद् है । श्रीकृष्ण-प्रेमधनके सारे निर्यासद्वारा ही आपकी सत्ता गठित है, इसीलिये आप हैं 'लोकपूजिता' । आपके इस प्रेमकी पूजा सभी करते हैं, किंतु सहसा कोई इसकी प्राप्ति नहीं कर सकता । सर्वाश्रय वासुदेवमें आपलोगोंका मन सर्वतोभावसे समर्पित हो चुका है । ऐसा परिपूर्ण समर्पण और कहीं देखनेको नहीं मिला । संसारमें जितने प्रकारकी साधनाएँ हैं, उन सब साधनाओंका चरम लक्ष्य तो श्रीकृष्ण-भक्ति ही है—

श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते ॥

(श्रीमद्भा० १० । ४७ । २४)

शास्त्रोंमें दान, व्रत, तपस्या, होम, जप, स्वाध्याय, संयम आदि जितने प्रकारके साधन-भजनोंका उल्लेख है

और साधकगण जिनका अनुशीलन किया करते हैं, उन सबका चरमतम लक्ष्य तो श्रीगोविन्दके चरणोंमें ऐकान्तिकी रतिकी प्राप्ति ही है। वही परमा रति आपलोगोंकी निजस्व—परम सम्पद् है। अन्य जनोंके लिये जो धन साध्य है, आपलोगोंके लिये वही सिद्ध है। अतएव आपलोग और आपलोगोंका भाव सर्वलोकवाञ्छित एवं पूजित है। आप ही सबकी आराध्य सम्पद् हैं। जो प्रेमभक्ति सबकी काम्य है, आप उसकी जीवन्त श्रीविग्रह हैं। अतएव आप ही सर्वजीवोंके धन हैं। उत्तमश्लोक श्रीगोविन्दमें आपलोगोंकी भक्ति 'अनुत्तमा' है, अर्थात् जिसकी अपेक्षा अधिक उत्तम और हो नहीं सकती—वैसी सर्वोत्तमा, सर्वसाध्यशिरोमणि है। समस्त साध्योंकी जो अवधि है, परिसीमा है, आपलोग उसीमें चिरस्थित हैं। जिस प्रकार दाहिका शक्ति अग्निकी अर्जित वस्तु नहीं है, वह तो अग्निके सङ्ग एकात्मता-विशिष्ट है, उसी प्रकार महाभावलक्षणा भक्ति आपकी सत्ताके सङ्ग एकीभूत है। यह वस्तु **'मुनीनामपि दुर्लभा'** है। यही महाप्रेमलक्षणा-भक्ति-रूपी महावस्तु आपलोगोंके द्वारा ही इस जगत्में 'प्रवर्तित' हुई है। कारण, आपके महा-अनुरागमयी भक्तिपूर्ण कार्यकलापोंकी कथा जो श्रवण करते हैं, वे भी आपलोगोंके सदृश गाढ़ व्याकुलतापूर्ण भक्तिकी प्राप्ति कर लेंगे। जिस वस्तुकी उपमा स्वयं वही है, अन्य कोई वस्तु जिसकी उपमा नहीं हो सकती, उसका माहात्म्य वर्णन करने योग्य अन्य भाषा भी नहीं मिल सकती। आपके अतिरिक्त अन्य किसी देहमें इस महाभावात्मिका भक्तिको धारण करनेकी क्षमता भी नहीं है। अतएव एतादृशी भक्तिका गुणकीर्तन करनेकी शक्ति भी मुझमें नहीं है। मैं इस मर्त्यलोकको केवल इसीलिये धन्यवाद देता हूँ कि भावमयी आपलोग इस लोकमें प्रकट होकर अपने आचरणसे यहाँके जीवोंको यह शिक्षा दे रही हैं कि श्रीकृष्णसे किस प्रकार प्रेम करना चाहिये। व्रजकी उपस्थितिसे तीनों लोक धन्य और आपलोगोंकी उपस्थितिसे व्रज धन्य है।

शास्त्रोंमें त्यागधर्मके विषयमें बहुत कुछ लिखा है। इनमें सर्वश्रेष्ठ उपदेश श्रीमद्भगवद्गीतामें इस प्रकार कहा गया है—**'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'** जगत्में इस मन्त्रकी भी साक्षात् मूर्ति आपलोग ही हैं। आपलोगोंके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी इसका पूर्ण साक्षात्कार प्रत्यक्षीभूत नहीं होता। कारण, एकमात्र आपलोगोंने ही—

दिष्ट्या पुत्रान् पतीन् देहान् स्वजनान् भवनानि च।
हित्वावृणीत यूयं यत् कृष्णाख्यं पुरुषं परम्॥
(श्रीमद्भा० १०।४७।२६)

—सर्वस्वका त्यागकर पतिरूपसे वरण किया है नराकृति परब्रह्म श्रीकृष्ण नामक परम देवताको। एकमात्र आप ही यह कर सकी हैं। अवश्य यह बात भी सही है कि इस जगत्में जिन्होंने भी श्रीकृष्ण-प्राप्ति की है, उन सभीने सर्वस्वका त्याग किया है; किंतु उन सबके त्याग और आपलोगोंके त्यागमें पार्थक्य है। अन्य लोगोंका त्याग विवेक-विचारपर प्रतिष्ठित है, जबकि आपलोगोंका त्याग अनुरागके ऊपर प्रतिष्ठित है। 'सर्वस्वका त्याग करना उचित है'—इस विचारपूर्वक लोग त्याग किया करते हैं, किंतु आपलोगोंने तो श्रीकृष्णके प्रति प्रगाढ़ अनुरागके आवेगवश सर्वस्वका त्याग किया है। आश्चर्यकी बात यह है कि आपलोगोंको यह ज्ञात भी नहीं है कि आपलोगोंने कुछ त्याग किया है। दूसरे जो त्याग करते हैं वह उन्हें ज्ञात रहता है। वे पहले त्याग करते हैं, तदनन्तर उसके फलस्वरूप उन्हें भगवत्प्राप्ति होती है। आपलोगोंने सर्वप्रथम ही पुरुषोत्तमसे प्रेम करके उसकी प्राप्ति की है और उस प्राप्तिके फलस्वरूप सर्वस्वत्याग स्वतः हो गया है। दूसरोंका त्याग है साध्य, आपलोगोंका त्याग है स्वतः। श्रीकृष्णके प्रति गाढ़ अभिनिवेशके फलस्वरूप आपलोगोंको अन्य किसी वस्तुका अनुसंधान नहीं रहता। क्या त्याज्य है और क्या ग्राह्य है, आपलोग कुछ भी नहीं जानतीं। आपलोगोंके इस प्रगाढ़ आवेशमय आचरणसे जगज्जीवोंको यह शिक्षा मिली कि गम्भीर अनुराग-हेतु जो श्रीकृष्ण-प्रीति होती है और श्रीकृष्ण-भिन्न अन्य तृष्णाका त्याग होता है—वही परम पुरुषार्थ एवं सर्वसाध्य-शिरोमणि है।

सर्वस्वरूप श्रीकृष्णके प्रति जो परिपूर्ण प्रेमभाव है, वही सर्वात्मभाव या महाभाव है। महाभावमें यह सामर्थ्य होती है कि वह श्रीकृष्णचन्द्रको पूर्णतम भावसे निरन्तर अन्तराकाश (हृदयाकाश) में आविर्भूत करके रखता है। उसी महाभावको आपलोगोंने वशीभूत करके अपने अधिकारमें कर रखा है—**'सर्वात्मभावोऽधिकृतो भवती-नामधोक्षजे'** (श्रीमद्भा० १० । ४७ । २७)।

महाभाव प्रेमकी अष्टम कक्षाका घनतम विलास है। अर्थात् प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव—इस प्रकार क्रमशः गाढ़ता प्राप्त होते-होते प्रेम महाभावमें परिणत होता है। यह महाभाव वैकुण्ठेश्वरी लक्ष्मीदेवीको भी अलभ्य है। इस महाभावकी मूर्तिमती विग्रह तो आपलोग ही हैं। वस्तुतः आपलोगोंको कभी भी श्रीकृष्ण-विरह हो नहीं सकता। कारण, प्रेमसे वशीभूत हुए श्रीकृष्ण आपलोगोंका त्याग कर कभी भी आपसे दूर रहनेमें समर्थ ही नहीं हैं। अतएव आपलोग हैं महाभाग्यवती। आपलोगोंका जो यह श्रीकृष्णविरह दीख रहा है, यह तो मात्र एक बहिरङ्ग व्यापार है। अन्तरमें तो आप श्रीकृष्णमय ही हैं। विरहके इस बाह्य प्रकाशका भी मुझे एकके अतिरिक्त कोई अन्य कारण खोजनेपर भी नहीं मिला। बहुत सोच-विचारकर मैं इस निष्कर्षपर पहुँचा हूँ कि यह विरह केवल मुझ-सरीखे जीवाधमोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही है—**'विरहेण महाभागा महान् मेऽनुग्रहः कृतः ॥'** (श्रीमद्भा० १० । ४७ । २७)।

प्रेम एक महाशक्तिशाली वस्तु है—यह सुना भी था और विश्वास भी किया था; किंतु कदापि एवं कुत्रापि प्रेमकी ऐसी महामहिमाका चाक्षुष साक्षात्कार अन्यत्र नहीं हुआ। जगत्‌में और किसीको हुआ हो, यह भी अविदित है। यदि आपलोगोंको विरह नहीं होता तो परम देवता श्रीकृष्ण मुझे आपलोगोंके पास नहीं भेजते और व्रजमें आनेका यह परम सौभाग्य नहीं मिलता तो मैं महाभाव-समुद्रके इस आश्चर्यमय रस-तरंगका दर्शन कर कृतार्थ भी नहीं हो पाता। इस व्रजमें आकर महाभाववती आपलोगोंके दर्शन एवं आपलोगोंकी वेदनार्तिमय निरुपम उक्तिके श्रवण-को मैं अपने परमातिपरम सौभाग्यकी परमावधि मानता हूँ। आपलोगोंने जो प्रश्न किया था कि 'इस निरुपाधि-प्रेममें विरह आया ही क्यों ?' उसका उत्तर यही है कि 'इस जीवाधम उद्धवपर अनुग्रह करनेके लिये, उसके अवन्य जीवनको धन्यतम बनानेके लिये ही यह प्रकट हुआ है।'

इस प्रकार उद्धवजी व्रजाङ्गनाओंके महाभावकी महती महिमाका कीर्तन करने लगे; किंतु व्रजाङ्गनाएँ इससे तिलमात्र भी सुखी होनेकी अपेक्षा और अधिक विषण्ण हो गयीं। वे मन-ही-मन कहने लगीं—'उद्धव ! तुम भी कैसे मनुष्य हो ! जो वेदनासे व्याकुल हो रहा हो, उसका गुणगान करनेसे क्या कभी उसकी व्यथाका उपशम हो सकता है ! इस समय हम श्यामके विरहमें व्याकुल होकर मृत्युके द्वारपर खड़ी हैं। ऐसे समय तुम हमारे भावकी प्रशंसाके पुल बाँध रहे हो ! जिनके समान हतभागिनी सारे विश्वमें खोजे नहीं मिलेंगी, तुम उन्हींकी भाव-महिमाके गुणगान कर रहे हो ! क्या तुम इसी प्रशंसासूचक चाटुकारिताद्वारा हमें सान्त्वना देने-हेतु व्रजमें आये हो ! क्या तुम इतना भी नहीं जानते कि जिसका कण्ठ निदारुण पिपासा-हेतु सूखा जा रहा हो, उसके कष्टकी निवृत्ति एकमात्र पानीय वस्तुद्वारा ही की जा सकती है ! यदि तुम प्राणप्रियतम श्रीकृष्णका हमारे लिये कोई संदेश लाये हो तो हमें वही सुनाओ, व्यर्थके प्रशंसा-वचनोंद्वारा हमारी विरहाग्निमें घृताहुति तो मत डालो।'

गोपियोंके हृदयकी बात उनकी भावभङ्गी एवं मुख-श्रीपर प्रस्फुटित होकर स्पष्ट झलक रही थी। उद्धवजी अपनी भूल समझकर बोले—'आप अपने प्रियतम श्रीकृष्णका संदेश श्रवण करें—**(श्रूयतां प्रियसंदेशः)** (श्रीमद्भा० १० । ४७ । २८)। व्रजाङ्गनाएँ बोलीं—'उद्धवजी ! हमें उनके संदेश सुननेसे कोई प्रयोजन नहीं है। हमें तो वही बताओ जिससे हम शीघ्र उन्हें पा सकें।' उद्धवजी बोले—'मैं अभी परम उत्कण्ठिता आपलोगोंके समक्ष अतिशीघ्र श्रीकृष्णप्राप्तिका सुखावह संदेश **(भवतीनां सुखावहः)** (श्रीमद्भा० १० । ४७ । २८) परिवेशन करूँगा, आप श्रवण करें।' यह कहकर उद्धवजी व्रजाङ्गनाओंको श्रीकृष्णका संदेश सुनाने लगे। (क्रमशः) (अनु०—श्रीचतुर्भुजजी तोषणीवाल)

तुलसीकी मूल लाक्षणिकता—निर्भयता

(श्रीमुकुन्दलालजी मुंशी)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी श्रीरामभक्त कवि थे, युग-सुधारक, विद्रोही और संत भी थे। उनके व्यक्तित्वमें उपर्युक्त सभी विशेषताएँ पूर्णरूपसे विकसित थीं। अब प्रश्न होता है कि उनकी इन सब विशेषताओं एवं व्यक्तित्व तथा कृतित्वके पीछे कौन-सा चारित्र्य-बल और लाक्षणिकता कार्य कर रही थी? तो इसका उत्तर यह है कि उनके व्यक्तित्व और कृतित्वके अध्ययनसे यह तथ्य स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि 'निर्भयता' ही उनकी एक चारित्रिक विशेषता थी, जो उनके समूचे व्यक्तित्व एवं कृतित्वमें दिखायी पड़ेगी; किंतु मात्र यह कह देनेसे ही यह सिद्ध नहीं हो जाता कि तुलसीदासजी निडर व्यक्ति थे और निर्भयता उनकी लाक्षणिकता थी। आजका आलोचक, विवेचक तथा पाठक किसी भी उक्तिको कसौटीपर कसनेके बाद खरा उतरनेपर ही स्वीकार करता है। अतः इस लाक्षणिकताकी वास्तविकता परखने और सिद्ध करनेके लिये उनके व्यक्तिगत जीवन-प्रसङ्गों तथा उनकी साहित्यिक कृतियोंमें झाँकना पड़ेगा।

जीवन-प्रसङ्ग और निर्भयता

गोस्वामीजीने स्वयं अपने जीवन-प्रसङ्गोंका, उनकी तिथियोंका कम ही उल्लेख किया है। जनश्रुतियों, टीकाकारों, शोधप्रबन्धों और विभिन्न ग्रन्थोंमें परोक्ष उल्लेख आदिके आधारपर तुलसीदासजीके जीवनके प्रसङ्गको यथार्थ मानकर उनके चरित्रकी विशेषता देखनी पड़ेगी। इस प्रकाशमें उनके जीवनके अनेक प्रसङ्ग उनकी निर्भीकताके सजीव दृष्टान्त हैं। उनके युगतकका अधिकांश साहित्य संस्कृत-भाषामें ही होता था। अर्धशिक्षित, अबोध अधिकांश देशवासी 'देवभाषा' संस्कृतसे अनभिज्ञ थे। अतः गोस्वामी तुलसीदासजीने श्रीरामकथाको ग्राम्य-गिरामें काव्यबद्ध करनेका साहस किया। मन्दिरों और ग्रन्थोंमें बंद श्रीरामको तुलसीदासजीने ग्रामों, कसबों तथा नगरोंकी झोपड़ियों, कुटीरों तथा मकानोंतक पहुँचा दिया। '**हारिये न हिम्मत बिसारिये न राम-नाम**' का मन्त्र रुधिरकी भाँति उनके समस्त शरीर, चेतना और जीवनमें व्याप्त था। निर्भयता उनकी अपनी चारित्रिक लाक्षणिकता थी। उनकी निर्भय लेखनी ग्राम्य-गिरा-पथपर चलती रही, श्रीराम-गाथाका अस्खलित प्रवाह चलता रहा और लोक-पूज्य एवं लोकप्रिय ग्रन्थ 'रामचरितमानस'का निर्माण हुआ।

'रामचरितमानस'के अतिरिक्त भी अन्य ग्यारह ग्रन्थोंकी रचना गोस्वामीजीने की, जिनमें कई अवधी भाषामें हैं तो कई व्रजभाषामें। आज भले ही यह बात सामान्य-सी प्रतीत हो, किंतु उस युगके संदर्भमें देखा जाय तो उस युगके धुरंधर प्रभावशाली एवं प्रभुत्वशाली पण्डित-समाजके आक्रोश एवं विरोधके बीच डटे रहकर लोकभाषामें साहित्य-रचना करना कोई साधारण कार्य नहीं था। ऐसे कार्यके लिये निष्ठा, साहस और निर्भयता अनिवार्य थी, जो तुलसीदासजीकी रग-रगमें समायी हुई थी।

उनकी निर्भयताके विषयमें एक दूसरा बहुत ही चर्चित प्रसङ्ग है—अकबर महान्‌द्वारा तुलसीदासजीसे मनसबदारीका प्रस्ताव। अकबरकी मनसबदारीके प्रस्तावको निर्भय व्यक्ति ही ठोकर मार सकता था। गोस्वामीजीने अकबर महान्‌को कहला भेजा—

हम चाकर रघुबीरके पटौ लिखौ दरबार।
तुलसी अबका होहिंगे नर के मनसबदार॥

जिस सम्राट्‌के सामने बड़े-बड़े शूरवीरोंकी वाणी पक्षाघातसे पीड़ित हो जाती थी, उस सम्राट्‌का हृदय दग्ध कर देनेवाली वाग्ज्वाला तुलसीदास-जैसे निडर संतके मुखसे ही निकल सकती थी।

अन्य क्षेत्रोंमें भी उनकी निर्भयताके दर्शन होते हैं। तुलसीदासजीके युगमें साधुओं, तान्त्रिकों, मठाधीशों, सूफियों, कापालिकों, वामाचारियों तथा निर्गुण-पंथियोंने पाठ-पूजा, आराधना, उपासनाका एक जटिल ताना-बाना बना दिया था। उन लोगोंने ऐसा वृत्त खींच दिया था कि जिसके कारण स्त्रियों, अस्पृश्य कही जानेवाली जाति तथा दलित वर्गको पाठ-पूजा, मन्दिर-प्रवेश, दर्शन आदिसे वञ्चित रखा गया। तुलसीदासजी शान्त न बैठ सके, वे सरल-सहजरूपमें कहते हैं—

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥

इस प्रकार गोस्वामीजीने ईश्वर-आराधनाका निर्मित सोपान सभीके लिये सुलभ करा दिया और भक्तिका सरल मार्ग प्रशस्त किया। सरल, सुलभ एवं सचोट 'राम-नाम'द्वारा मुक्ति-पथ बताना किसी निर्बल, आस्थाहीन, भयातुर व्यक्तिके लिये सम्भव नहीं हो सकता। यह कार्य तो तुलसीदास-जैसा दृढ़, निष्ठ और निडर ही कर सकता था।

कृतित्व—उनके निर्भय व्यक्तित्वकी छाप उनकी कृतियोंमें भी झलक उठी। उन्होंने अपने साहित्यमें भयग्रस्त, डरपोक, कायर चरित्रोंको कभी भी क्षमा नहीं किया, चाहे वे देवता हों, देवाधिदेव इन्द्र हों या उनके इष्टके पिता स्वयं दशरथ हों। गोस्वामीजीकी लेखनीसे अनेकानेक ग्रन्थोंका सर्जन हुआ, किंतु उनमें सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रन्थ 'रामचरितमानस' ही सिद्ध हुआ। अतः निर्भयताके आधार-पर रामचरितमानसके मुख्य पात्रोंको कसौटीपर कसें।

भारतीय संस्कृतिमें नारीकी महत्ता और महत्त्वको ही सदा प्राथमिकता दी गयी है, अतः मानसके नारी-पात्रोंसे ही यह यात्रा प्रारम्भ करें। मानसके मुख्य नारी-पात्र निम्नलिखित हैं—वैदेही, कौसल्या, सुमित्रा, कैकेयी, मंथरा, ताड़का, तारा, मंदोदरी और शूर्पणखा।

उपर्युक्त पात्रोंके चरित्र-चित्रणमें निर्भयताके दर्शन कहाँ होते हैं? सर्वप्रथम श्रीराम-वल्लभा वैदेहीके प्रसङ्गोंको देखें—यद्यपि फुलवारी-प्रसङ्गमें श्रीरामके प्रति वैदेहीके आकर्षण और समर्पणका तथा परस्पर प्रणयका लालित्यपूर्ण चित्रण है, किंतु वैदेहीके साहस और निर्भयताका उज्ज्वल प्रसङ्ग तो वनगमनके समयपर दिखायी पड़ता है। सास और पतिके सामने वन चलनेके प्रस्तावको विनम्रता और मर्यादाके वृत्तमें रखकर साहस और निर्भयताका जो प्रदर्शन गोस्वामीजीने वैदेही-जैसे नारी-पात्रके माध्यमसे करवाया है, वह अद्वितीय है। वनकी असुविधाओं और भय-स्थानोंका चित्र खींचकर वैदेहीको भयभीत करके वन चलनेसे विचलित करनेके लिये श्रीरामके प्रत्येक तर्कका उत्तर वैदेहीने दिया और अन्तमें यह कहकर कि—'मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुम्हहि उचित तप मो कहुँ भोगू॥'—श्रीरामको निरुत्तर कर दिया। इस पूरे प्रसङ्गमें वैदेहीके साहस और स्नेहकी पराकाष्ठा झलकती है।

माता कौसल्याका श्रीरामको वनगमनकी अनुमतिका प्रसङ्ग मातृत्वके साहसका अनूठा उदाहरण है।

अम्बा सुमित्राने लक्ष्मणको स्पष्ट आदेश दिया—

जौं पै सीय रामु बन जाहीं। अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं॥

—इससे क्या यह प्रतीत नहीं होता कि ऐसा आदेश एक वीर, धीर, निडर माता ही अपने पुत्रको दे सकती है?

बालीकी पत्नी तारा पतिसे दबी हुई, सहमी हुई पत्नी न थी, वह वास्तवमें सहचरी थी। सुग्रीवने बालीको ललकारा। श्रीरामका समर्थन-प्राप्त सुग्रीवसे मल्लयुद्धके लिये तत्पर पति बालीको मना करनेका उसमें साहस था। बालीकी इच्छाके विरुद्ध उसे रोकनेका प्रयास ताराकी निर्भीकताका द्योतक है। तारा-जैसी निडर पत्नी ही कह सकती थी—

सुनु पति जिन्हहि मिलेउ सुग्रीवा। ते द्वौ बंधु तेज बल सींवा॥
कोसलेस सुत लछिमन रामा। कालहु जीति सकहिं संग्रामा॥

मंदोदरी रावणकी पटरानी थी। रावण एक ऐसा पराक्रमी राजा था, जिसने देवताओं असुरों और ग्रहोंपर विजय प्राप्तकर उन्हें बंदी बना लिया था। उसकी भृकुटीकी वक्रताने देवोंतकको भयातुर कर दिया था। ऐसे क्रोधी राजाकी पत्नी मंदोदरीने रावणको सीतापर खड्ग-प्रहार करते हुए रोका। भयभीत, दबी हुई, दासी-वृत्तिकी पत्नीमें पतिको किसी कार्यके लिये रोकनेका साहस कहाँ हो सकता है? यह तो मंदोदरी-जैसी निर्भय सहचरी ही कर सकती थी। सीताको वापस लौटानेकी सलाह भी निर्भीक सहचरी मंदोदरीने ही दी थी।

शूर्पणखाका भी एक निडर चरित्र है। बिना झिझक, साहस और निर्भयतासे वह पारी-पारी श्रीराम-लक्ष्मणसे विवाहका प्रस्ताव रख सकी। यह निर्भयता उसकी चारित्रिक लाक्षणिकता ही कही जायगी।

गोस्वामीजीने रामचरितमानसके पुरुष-पात्रोंमें निर्भीक चरित्रोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा और कायरोंकी भर्त्सना की है।

सुग्रीवका चरित्र कायरतापूर्ण है। मानसमें उल्लेख है—

ताकें भय रघुबीर कृपाला। सकल भुवन मैं फिरेउँ बिहाला॥

अर्थात् मैं (बालीके) भयसे बेहाल होकर सब लोकोंमें घूमता रहा। श्रीराम जानते थे कि भयसे भागा हुआ व्यक्ति भयसे ही काबूमें लाया जा सकेगा। सुग्रीवके पास लक्ष्मणको भेजते समय श्रीराम ऐसा ही निर्देश देते हैं—

तब अनुजहि समुझावा रघुपति करुना सींव।
भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव॥

दूसरा महान् चरित्र है, महाराज श्रीदशरथका। वे वानप्रस्थ-वयके प्राप्त होनेपर भी कामपर विजय न प्राप्त कर सके। बड़े-बड़े महायुद्धोंमें महावीरोंके चरण उनके समक्ष भले ही लड़खड़ाते हों, किंतु कैकेयीके कोपभवनमें प्रवेश करते समय स्वयं चक्रवर्ती महाराजके चरण भयसे रुक गये—

कोपभवन सुनि सकुचेउ राऊ। भय बस अगहुड़ परइ न पाऊ॥
सुरपति बसइ बाहँ बल जाकें। नरपति सकल रहहिं रुख ताकें॥
सो सुनि तिय रिस गयउ सुखाई। देखहु काम प्रताप बड़ाई॥

—दशरथकी कायरता, काम-प्रियता तुलसीदासजीको जरा भी रुचिकर नहीं प्रतीत हुई और उन्होंने बिना किसी झिझकके मानसमें उसका वर्णन किया है।

इसी संदर्भमें बालीकी अद्वितीय निर्भयताका गुण निखरकर ऊपर आता है। पत्नीके कथनकी सत्यता स्वीकार करते हुए भी लड़नेका निर्णय करना कोई कम साहस एवं वीरताका काम नहीं था। सर्वाधिक साहसका परिचय तो हमें बालीके उस प्रश्नमें मिलता है जो उसने श्रीरामके बाणसे घायल, जीवनकी अन्तिम साँस लेते हुए श्रीरामसे किया था—

धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं। मारेहु मोहि ब्याध की नाईं॥
मैं बैरी सुग्रीव पिआरा। अवगुन कवन नाथ मोहि मारा॥

ऐसा सचोट, स्पष्ट प्रश्न एक निडर व्यक्तिके मुखसे ही निकल सकता है। बालीकी यह चारित्रिक विशिष्टता थी कि श्रीराम-जैसे व्यक्तिके सामने ललकारकर अपना पक्ष प्रस्तुत कर सका और यही नहीं, ऐसा आरोप लगाया जिसका संतोषजनक उत्तर आजतक ढूँढ़ा जा रहा है।

आदिकालसे आजतक अनेकानेक युगमें आपको भगवान्‌के विविध प्रकारके भक्त मिलेंगे, किंतु श्रीरामको गङ्गाके तटपर जो भक्त मिला वैसा निडर भक्त भक्तोंकी शृङ्खलामें दिखायी नहीं देता। वह अनोखा निडर भक्त था—केवट। गङ्गा-पार करनेके लिये श्रीरामने नाव माँगी। इस माँगको केवटने ठुकरा दिया और कहा—

जौं प्रभु पार अवसि गा चहहू। मोहि पद पदुम पखारन कहहू॥

× × ×

बरु तीर मारहुँ लखनु पै जब लगि न पाय पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपाल पारु उतारिहौं॥

श्रीरामका 'मरम' जानते हुए भी वह निर्भयतापूर्वक कहता है कि यदि आप पार जाना चाहते हैं तो मुझसे आप पैर धोनेके लिये कहिये। सामान्यतः भक्त भगवान्‌से प्रार्थना करता है, अनुमति माँगता है प्रभुके पैर धोनेके लिये, किंतु यहाँ तो क्रम ही उलटा है। उसे लक्ष्मणद्वारा मारे जानेका भय नहीं है, उसे

यह भी भय नहीं है कि वह जिनसे वार्तालाप कर रहा है, वे साक्षात् प्रभु हैं । वह तो अपनी हठकी अभिव्यक्ति जिस निडरतासे करता है वह अनुपम है ।

मानसमें शत्रुघ्नका मौन चरित्र है । लक्ष्मणकी निडरताके अनेक प्रसङ्ग मानसमें बिखरे पड़े हैं—परशुराम-प्रसङ्गमें, लंकाके रणाङ्गणमें उनकी वीरता, निर्भयता तथा निडरताका परिचय मिलता है । श्रीराम नम्र, विनीत, शिष्ट किंतु सदा निडर हैं । ताड़का-वधसे लेकर रावण-वध तकके विस्तृत विविध एवं विभिन्न प्रसंगोंमें श्रीरामकी निर्भयताके दर्शन होते हैं । उनकी निर्भयताकी पुष्टि 'परशुराम-प्रसङ्ग'में होती है—

जौं हम निदरहिं बिप्र बदि सत्य सुनहु भृगुनाथ ।
तौ अस को जग सुभटु जेहि भय बस नावहिं माथ ॥

× × ×

कहउँ सुभाउ न कुलहि प्रसंसी । कालहु डरहिं न रन रघुबंसी ॥

श्रीराम शौर्य, वीरता और निर्भयताके मूर्तिमान् स्वरूप थे ।

हनुमान्‌ने छायाग्राहिणीसे भय नहीं माना, सुरसा उन्हें विचलित न कर सकी, लंकिनी उनका कुछ न बिगाड़ सकी और असुरराज रावणके सम्मुख भी वे 'निःशङ्क' खड़े रहे । रावणके दरबारमें बंदी बने हुए हनुमान्‌का वर्णन गोस्वामीजीने यों किया है—

देखि प्रताप न कपि मन संका । जिमि अहिगन महुँ गरुड़ असंका ॥

दानव एवं असुर-पक्षमें भी हमें अनेक चारित्रिक त्रुटियोंके रहते हुए भी 'निर्भीकता'का परिचय तो मिलता ही है । असुरसमूहके चार विशिष्ट चरित्र—विभीषण, कुम्भकर्ण, मेघनाद और रावण ।

यों तो विभीषण बाह्यरूपसे देखनेपर बहुत ही सौम्य, भ्रातृप्रेमी, कोमल प्रकृतिके दिखायी पड़ते हैं, किंतु अवसर आनेपर उनकी निर्भयता उभरकर ऊपर आती है । विभीषणका रावणको जानकीको लौटानेके लिये समझाना, रावणका चरण-प्रहार और उसके प्रतीकार एवं विरोधमें उसका साथ, सङ्ग और पक्ष छोड़नेका साहस एक निर्भीक व्यक्ति ही जता सकता था । रावणके सामने हाथ बाँधे, काँपते, थरथराते देवता निर्भयताका प्रदर्शन न कर सके जबकि विनम्र विभीषणने निर्भयताका अभूतपूर्व परिचय दिया ।

कुम्भकर्णका जागरण—

जागा निसिचर देखिअ कैसा । मानहुँ कालु देह धरि बैसा ॥

उसे यह आभास हो गया था कि श्रीराम ईश्वरके अवतार हैं फिर भी वह युद्धसे विमुख नहीं हुआ । कुम्भकर्णके युद्ध-कौशलने स्वयं श्रीरामको समराङ्गणमें आनेको बाध्य किया । श्रीरामसे युद्ध करनेवाला व्यक्ति वही हो सकता है जो निर्भय हो ।

मेघनाद और रावणकी शौर्यता और निर्भीकतासे मानसका सारा लङ्काकाण्ड भरा पड़ा है । जिस निर्भयतासे मेघनाद और रावणने श्रीरामका समराङ्गणमें सामना किया, जिस शौर्य एवं साहसका प्रदर्शन किया, उसकी प्रशंसा श्रीराघवको भी करनी पड़ी ।

तुलसीदासजीके व्यक्तित्व एवं साहित्यके अन्तरङ्गमें प्रवेश करनेसे यह स्पष्टतः लक्षित होता है कि उनकी अन्य चारित्रिक विशिष्टताओं और विलक्षणताओंके पीछे जो मूल प्रकृति कार्य कर रही थी, वह थी अपनी मान्यताओं, धारणाओं, आस्था और विश्वासोंकी सचोट एवं निर्भीक अभिव्यक्ति ।

आज देशकी वही स्थिति है, जो आजसे चार सौ वर्ष पूर्व तुलसीदासजीके युगमें थी । शासक बदले, शासन नहीं । आज धर्मक्षेत्रमें वही पाखण्डका बाजार गर्म है । उस युगमें वाममार्ग, निर्गुण, सगुण, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक असंतुलन एवं पतनसे निपटनेके लिये हमें आज तुलसीदासजीकी लाक्षणिक चरित्र-विशेषता, निर्भीकता और साहसको व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं जीवनके अन्य क्षेत्रोंमें उतारनी पड़ेगी । तुलसीदासजीकी निर्भयताको जीवनका आदर्श बनायें । भगवान्‌ने भी गीताजीमें दैवी सम्पदाके वर्णनमें इस निर्भयताको पहला स्थान दिया है ।

गुरु वसिष्ठकी तपोभूमि

(श्रीमती उषा सिंह)

वीर-भूमि राजस्थानमें ऐतिहासिक दर्शनीय स्थलके अतिरिक्त अनेक महत्त्वपूर्ण धार्मिक स्थल भी हैं। उन्हींमें एक तपोभूमि महर्षि वसिष्ठजीका आश्रम है। हजारों वर्षों पूर्व महर्षिने कितनी सुन्दर, शान्त एवं निर्जन भूमिपर जप किया होगा, यह विचारणीय है। आबूरोड (राजस्थान) से २७ कि० मी० माउंट आबू राज्यका पर्वतीय दर्शनीय स्थल है। वैसे तो यहाँ अनेक स्थल दर्शनीय हैं, पर माउंट आबूसे लगभग ५–६ कि०मी० की दूरीपर अर्बुदाचलके दक्षिणी भागके विशाल वनमें स्थित है—वसिष्ठ-आश्रम।

माउंट आबूसे चलकर उस स्थानपर पहुँचनेपर एक आश्रम मिलता है। वहाँ कुछ संत रहते हैं। उसके आगेकी यात्रा पैदल करनी पड़ती है। छोटी-छोटी घाटियोंपर पत्थरोंका रास्ता बड़ा ही मनोरम है। चारों ओर हरे-भरे पहाड़ हैं। वहाँ पक्षियों एवं जीव-जन्तुओंकी बोलीके अतिरिक्त कुछ सुनायी नहीं पड़ता। थोड़ी दूर चलनेके उपरान्त नीचे उतरनेके लिये सीढ़ियाँ मिलती हैं, जिनकी संख्या ६७० है। चारों ओर आम आदिके पेड़ दिखायी देते हैं, जो कुछ बड़े, कुछ छोटे और कुछ बिलकुल छोटे हैं। पेड़ आदि इतने घने हैं कि धूप न मिलनेके कारण उनपर काई जमी हुई है। कहीं-कहीं बंदरोंकी किलकिलाहट सुनायी पड़ती है; पर वातावरणमें भयानकता नहीं है। सीढ़ियाँ समाप्त होनेपर 'गोमुख' तीर्थ पड़ता है। वहाँ श्रीसरस्वती गङ्गा निरन्तर प्रवाहित हो रही हैं। श्रीसरस्वतीजीको महर्षि विश्वामित्रद्वारा शाप प्राप्त होनेपर श्रीवसिष्ठजीने उसका शापोद्धार किया और उन्हें आश्रमके निकट प्रवाहित होनेको कहा। इस कुण्डमें स्नान और यहाँ गोदान करनेसे सभी मनःकामनाओंकी पूर्ति एवं अक्षय पुण्यकी प्राप्ति होती है।

गोमुख-कुण्डसे २०-२५ कदम और नीचे उतरनेपर महर्षि वसिष्ठजीका आश्रम मिलता है। वह बड़ा ही शान्त एवं सौम्य स्थल है। यदि वह इस समय इतना शान्त है तो हजारों वर्षपूर्व कितना शान्त रहा होगा। ऐसे पुराणपुरुष, युगद्रष्टा, महानुभाव श्रीवसिष्ठजीकी तपोभूमि है, जहाँ हजारों ऋषिपुत्र वेदोंके मन्त्रोंका उच्चारण करके समग्र वातावरणको पवित्र करते थे तथा क्षत्रियकुमार एवं अन्य शिक्षार्थी शास्त्र-विद्या ग्रहण करके धर्म और देशकी रक्षा करते थे। ऐसा महान् पौराणिक, ऐतिहासिक, पवित्र स्थल श्रीगोमुख ही वसिष्ठ-आश्रमके नामसे प्रसिद्ध है। यहाँ श्रीवसिष्ठजीकी सुन्दर मूर्ति श्रीराम-लक्ष्मणका हाथ पकड़कर खड़ी है। अनसूया माताकी भी मूर्ति है। आम, जामुन, कटहल, स्वर्णचंपा आदिके विशाल वृक्ष हैं। वहाँ जाकर यदि कुछ क्षण बिताये जायँ तो वे जीवनके अच्छे क्षणोंमें एक होंगे। आश्रम-जैसी व्यवस्था है। वहाँ पहुँचकर ऐसा लगता है कि मानो हम ऋषियोंकी संतान हैं और अपने ही घरके मन्दिरमें आये हैं तथा वसिष्ठजी हमपर कृपा कर रहे हैं।

आश्रममें अग्निकुण्ड है, जिससे अग्निवंशीय जातियाँ—सोलंकी, परमार, चौहान और परिहार—उत्पन्न हुई हैं। उसके आस-पास कच्चे रास्ते हैं। वहाँ आदिवासियोंका आना-जाना लगा रहता है तथा वन्य पशु भी आते-जाते रहते हैं।—ऐसे रामराज्यके प्रणेता तथा अखिल विश्वको राजनीतिक, भौगोलिक, सामाजिक एवं धार्मिक रीतिसे साकार करनेवाले महापुरुषकी तपोभूमिके दर्शनका लाभ लेना भी सौभाग्यकी बात है। माउंट आबूसे आश्रमतक जानेके लिये टैक्सी आदिकी संतोषजनक व्यवस्था है।

सम्मान-दान

[एक भाव-चित्र]

शहनाईकी स्वर-लहरी गूँज रही थी, वायुमण्डल मधुर संगीतसे निनादित था। आने-जानेवालोंकी चहल-पहल थी। आज पं० श्रीविद्यापतिकी कन्याका विवाह था। वे आगन्तुकोंके स्वागत-सत्कारमें तत्पर थे।

अरे! यह क्या? सभी आश्चर्यचकित हो उठे, क्या वे पागल हो गये हैं? इस तरह सड़कपर लम्बे गिरकर, धूलि-धूसरित होकर प्रणाम करना सभीको आश्चर्यचकित न करता तो क्या करता?

इतने विशिष्ट विद्वान् पं० श्रीउमानाथका श्रीविद्यापतिको साष्टाङ्ग प्रणाम करना सभीको आश्चर्यमें डाल रहा था। पं० श्रीउमानाथ श्रीविद्यापतिको अपना गुरु मानते थे। वे भी उनकी कन्याके विवाहमें आमन्त्रित होकर आये थे। वे आचार्यको प्रणाम न करें, यह कैसे हो सकता है? मर्यादा तो मर्यादा ही है—'आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः'। आचार्यको प्रणाम करनेमें सड़क या घर, एकान्त या समूह नहीं देखा जाता।

पं० श्रीउमानाथ संस्कृतके विशिष्ट विद्वान् थे। व्याकरण, ज्योतिष, दर्शन, कर्मकाण्ड—इन सभी विषयोंका उन्हें गहन अध्ययन था। दर्शनके सभी विषय—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा आदिपर उनका पूरा अधिकार था। उस समय देशमें खोजनेपर उनकी-सी योग्यतावाले विशिष्ट विद्वानोंके मिलनेकी बहुत कम ही सम्भावना थी। हिंदी-अंग्रेजीपर भी उनका पूरा अधिकार था। वे राजकीय संस्कृत कॉलेजके प्रमुख आचार्यपदपर आसीन थे। पं० श्रीविद्यापति उसी कॉलेजमें उनके अधीनस्थ एक प्राध्यापकके पदपर थे। पं० श्रीउमानाथने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा पं० श्रीविद्यापतिसे ही प्राप्त की थी। इसीलिये वे उनसे उच्चपदपर आसीन होनेपर भी उन्हें अपना गुरु मानते थे और सदैव कॉलेज या घर सर्वत्र उनका पूरा सम्मान करते थे।

पं० श्रीउमानाथके शिष्योंका आग्रह था कि न्याय-सूत्रोंपर उनके पास कोई अच्छी पुस्तक उपलब्ध नहीं है, अतः वे उन सूत्रोंको संगृहीत कर एक भाष्य लिख दें। वे उस आग्रहको टाल नहीं सके और छः माससे इसी कार्यमें लगे थे। कार्य भी शीघ्र ही समाप्तिपर था। एक दिन सायंकाल कॉलेजसे लौटकर अपनी न्यायसूत्रोंवाली पुस्तककी पाण्डुलिपि मेजपर रखकर वे अपने दैनिक कार्यमें लग गये।

रात्रिमें पं० श्रीउमानाथ सोये ही थे कि बड़े लड़केकी उच्च आवाजसे चौंककर उठ बैठे। 'पिताजी! टेबुलपर रखी आपकी पुस्तक जल गयी है।'—लड़केने शीघ्रतासे कहा। टेबुलपर रखी धूपदानी उसपर गिर जानेसे पाण्डुलिपि जलकर राख हो गयी थी। उनके नौकर रामूने भूलसे धूपदानी पुस्तकके पास रख दी थी। पं० श्रीउमानाथ स्तब्ध-से रह गये। उठकर देखा, पाण्डुलिपि पूरी जल चुकी थी। उन्होंने रातों जागकर, कठिन परिश्रम करके जिस अनुपम ग्रन्थकी रचना की थी, उसे सर्वथा नष्ट हुआ देखकर उनके हृदयकी दशाका अनुमान कोई भुक्तभोगी ही लगा सकता है। फिर भी वे बिलकुल मौन एवं शान्त रहे। वे प्रत्येक परिस्थितिमें अपने प्रभुकी लीलाका अनुभव करते थे और प्रत्येक प्राणीमें अपने इष्टको देखते थे।

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

यह लीला भी उनके प्रभुकी ही लीला थी।

थोड़ी ही दूर बरामदेमें रामू सो रहा था। उसकी नींद हल्लेसे खुल गयी थी, परंतु भयसे वह मुँह ढके हुए था। 'रामूको कोई कुछ न कहे, उसे सोने दें।' पं० श्रीउमानाथने सबको रोक दिया था। प्रातःकाल रामू उठा, उसे पूरी घटनाका पता था ही। वह भयसे काँप रहा था, न जाने उसे क्या दण्ड मिलेगा!

'भैया रामू! आज मुझे जरा जल्दी जाना है, कुछ आवश्यक कार्य है, अतः सब तैयारी शीघ्र कर देना।'

अपने स्वामीकी सदाकी ही भाँति मधुर वाणी सुनकर रामू अवाक् रह गया।

'ठीक बाबूजी!' भरे नेत्रोंसे रामूने कहा। उसका हृदय रोने लगा, अपने मालिककी मधुर वाणी सुनकर। कहाँ तो वह कल्पना कर रहा था कि उसे नौकरीसे हटा दिया जायगा। नौकरीके लिये भटकना होगा। इतना अच्छा मालिक मिलना क्या सम्भव है? परंतु यहाँ तो उसने अपने मालिककी वाणीमें तनिक भी अन्तर नहीं देखा। वही सम्मानभरी मधुर वाणी थी।

'बाबूजी! कल मुझसे बड़ी भूल हो गयी। ऐसा कहकर वह गिर पड़ा अपने स्वामीके चरणोंपर, उससे रहा नहीं गया। अरे-अरे! कोई बात नहीं भैया! ध्यान रखना चाहिये। तुरंत श्रीउमानाथने उसे उठाकर उसके कंधे थप-थपाकर कहा।

परीक्षाके दिन निकट थे, श्रीउमानाथ परीक्षा-कार्यमें व्यस्त थे। उन्हें पता नहीं चला कि उनके कार्यालयका चपरासी गोविन्द उनके सामने खड़ा था। उसपर दृष्टि पड़ते ही उन्होंने बड़े स्नेहसे पूछा—'क्या बात है गोविन्द! कैसे खड़े हो?' गोपीनाथ नामके एक सज्जन कलकत्तासे आये हैं। वे आपसे मिलना चाहते हैं।'—गोविन्दने उत्तर दिया।

श्रीउमानाथ तुरंत कागजोंको सँभालकर दरवाजेकी ओर चल पड़े। 'आपने अपने आनेकी कोई सूचना नहीं दी।' श्रीउमानाथ गोपीनाथके चरणोंमें गिर पड़े। दरिद्रता टपक रही थी, गोपीनाथके चेहरेसे। अपनी दीनतावश वे सकुचा रहे थे। ऐसे सम्मानकी उन्हें आशा भी नहीं थी।

आज प्रातः ही अचानक आना हो गया, मौसीका स्वास्थ्य खराब है, सोचा तुमसे भी मिल लूँ।—बड़े धीमे स्वरसे गोपीनाथने कहा।

'मैं तो आपका वही बालक हूँ। अपना घर छोड़कर अन्यत्र आप कहाँ ठहरेंगे।' अपना कमरा बंद करवाकर श्रीउमानाथ तुरंत गोपीनाथके साथ चल पड़े। बड़े सम्मानके साथ उनका सब सामान घर लाकर उन्हें वहीं ठहराया। मौसीके यहाँ उनके जाने-आनेकी समुचित व्यवस्था कर दी।

श्रीउमानाथके पिताजीका देहावसान जब उनकी पाँच-छः वर्षकी अवस्था थी, तभी हो गया था। कलकत्तामें गोपीनाथ उनके पड़ोसी थे। पिताकी मृत्युके बाद वे ही उनकी देख-रेख किया करते थे। उनके अध्ययन एवं उनकी घरेलू परिस्थितियोंकी उन्हें बड़ी चिन्ता रहा करती थी और बड़ी तत्परतासे वे उनका ध्यान रखते थे। श्रीउमानाथको उनसे पितृ-तुल्य प्यार मिला था। वे उन्हें अपना पिता ही समझते थे और उसी तरह सम्मान देते थे।

पं० श्रीउमानाथसे सभी प्रसन्न रहते थे। सड़ककी मेहतरानीको भी वे मैया कहकर पुकारते थे और वह भी उन्हें अपने पुत्रकी तरह मानती थी। श्रीउमानाथने किसीको असम्मानपूर्वक पुकारना सीखा ही नहीं था, चाहे कोई उनका शिष्य हो अथवा नौकर, गुरुजन हो अथवा कोई आगन्तुक। सभीमें उन्हें अपने आराध्यके दर्शन होते थे।

नारुन्तुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः।
ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत्॥

'अत्यन्त पीड़ित होनेपर भी किसीको मर्मभेदी वचन न कहे, दूसरेके द्रोहके काममें बुद्धिको न लगावे और जिस वाणीसे किसीको उद्वेग हो, ऐसी स्वर्गसे भ्रष्ट करनेवाली कठोर वाणी किसीसे न कहे।'

—इन वचनोंका पूर्णरूपसे पालन था श्रीउमानाथके जीवनमें। आयुमें छोटा हो अथवा बड़ा, सभीसे वे मधुर तथा नम्रतापूर्वक बोलते थे। सभीको यथोचित सम्मान देते थे, किसीका अपमान करना तो उन्होंने सीखा ही न था। अपने गुरुजनों एवं परिवारके वयोवृद्ध प्राणियोंको वे पूर्णरूपसे संतुष्ट रखते थे। इतने ऊँचे पदपर प्रतिष्ठित होकर भी उनमें अहंकार नहीं था। वे सरल हृदयसे दूसरोंका सदैव सम्मान करते थे। दम्भकी गन्ध भी उनमें नहीं थी। अपने गुरुजनों तथा बराबरवालोंका सम्मान करते तो अनेक लोगोंको देखा जाता है, परंतु बिना संकोच अपनेसे छोटोंका भी सम्मान करते वे बराबर पाये गये। उन्हें अपने सम्मानकी कभी परवाह नहीं थी। इस प्रकार श्रीउमानाथका जीवन एक आदर्श था और व्यवहार था अनुकरणीय।— 'हरि'

भक्त-गाथा

भक्तदेवी फूलीबाई

(पं० श्रीअक्षयचन्द्रजी शर्मा, साहित्यरत्न)

मारवाड़ वीरताके लिये विश्व-विश्रुत है। यहाँकी वीर-प्रसू भूमिमें अनेक संत-महात्माओंने भी इहलोक-लीला की है, इसका अभी बहुत कम परिचय हो पाया है। यहाँके सिकता-समूहके नीचे भक्तिकी वेगवती सरिता उन्मादिनीकी तरह लहराकर लुप्तप्राय हो गयी है। यहाँके जिन भक्तोंका थोड़ा-सा परिचय संसारको मिला है, वे संख्यामें थोड़े होते हुए भी गुण-गरिमामें महान् हैं। महाराज मानसिंहके मनोहर भजन और मेवाड़की मन्दाकिनी महामनस्विनी मीराके प्रेम-मदसे परिपूर्ण पद आज भी घर-घरमें गूँज रहे हैं। भक्तदेवी फूलीबाईका चरित्र भी भक्तोंके इतिहासमें अपना गौरवपूर्ण विशिष्ट स्थान रखता है। फूलीबाईके चारु चरित्रका जितना अंश ज्ञात है, वही उसके चरित्रकी उच्चता, निर्भरता, निष्ठा और निश्चयका पूरा परिचय देनेके लिये पर्याप्त है।

जोधपुरके सुविख्यात नरेश महाराजा जसवन्तसिंहजीके शासन-कालमें फूलीबाईकी साधना फूली-फली थी। महाराजा जसवन्तसिंह अपने समयके सबसे प्रतापी हिंदू-नरेश थे। वे उच्चकोटिके साहित्य-मर्मज्ञ और तत्त्वज्ञानसम्पन्न व्यक्ति थे। 'अपरोक्ष-सिद्धान्त,' 'अनुभव-प्रकाश' तथा 'आनन्द-विलास' आदि आपकी प्रसिद्ध आध्यात्मिक कृतियाँ हैं। महाराजका शासनकाल सं० १६९५ से १७३५ तक रहा है। फूलीबाई भी इस बीचमें मौजूद थी। फूलीबाईकी जन्म-निधनकी तिथियाँ अज्ञात हैं। फूलीबाई मारवाड़के एक छोटेसे गाँवमें पैदा हुई थी। उसका लालन-पालन नानाके घर माँझवास नामक गाँवमें हुआ था। वह कृषक-बालिका थी। उसका बचपन खेतोंमें ही बीता।

एक दिन फूलीबाई 'भाता' (खेतको ले जाया जानेवाला भोजन) लिये हुए खेतकी ओर जा रही थी। भगाँणा गाँवके सुप्रसिद्ध संत ज्ञानीजी उधरसे आ रहे थे। ज्ञानीजीने कृषक-कन्याकी ओर ध्यानसे देखा और उसके हृदयमें सोती हुई आध्यात्मिक भावनाको परखा। उनकी आँखोंके सामने फूलीबाईका भावी भव्य रूप झूमने लगा। ज्ञानीजीने कहा—'बाई! मैं भूखा हूँ। मुझे थोड़ा भोजन चाहिये।' फूलीबाई रुकी, उसने श्रद्धासे मस्तक झुकाया और बड़ी भक्तिके साथ भोजन सामने रख दिया। ज्ञानीजीने भोजन करते हुए फूलीके सिरपर प्यारसे हाथ फेरा और राम-नामके अमृत-रसका उपदेश दिया। फूलीबाईने कृतज्ञतासे अपना सिर झुका लिया। वह 'राम-नाम' गुरु-मन्त्रको पाकर कृतकृत्य हो गयी। उसका हृदय जिसकी खोजमें बेचैन था, वह मानो आज वरदानरूपमें उसे मिल गया। फूलीबाईने तभीसे ज्ञानीजीको अपना आध्यात्मिक गुरु स्वीकार किया। उनके हाथों भगवद्-भजनकी रखी हुई चिनगारी फूलीकी सतत-साधना और अनन्य-भावनासे सुलग उठी, उसकी ज्वालामें कलुष-कल्मष जलकर छार हो गये। फूलीका जीवन कुन्दनकी तरह जगमगा उठा।

उसके बाद फूलीबाई अपना समय एकान्त-चिन्तन और भगवद्-भजनमें व्यतीत करने लगी। उसका हृदय सांसारिक सुखों और भोगोंसे भागने लगा। फूलीबाई विवाहके योग्य हो गयी, पर नानाको न उसमें बाल-सुलभ चपलता दिखायी दी और न किशोरावस्थाके सुख-स्वप्नोंकी मादकता। नानाने विवाह करनेका निश्चय किया। फूलीने इसमें किसी प्रकारकी भी अनुरक्ति नहीं दिखायी। चुपचाप सगाई कर दी गयी और एक दिन

बारात भी गाँवकी सीमापर आ गयी। फूली यह सुनकर भीत मृगीकी तरह चकित-विस्मित हो गयी। उसके हृदयमें विचार-मन्थन चलने लगा। उसने मन-ही-मन कहा—

जानी आया गोरवे, फूली कियो बिचार।
सब संतों रो साहिबो, सो मेरो भरतार॥

फूलीके हृदयमें तरह-तरहके संकल्प-विकल्प उठने लगे। उसने सोचा—'मैं इस मुर्देसे क्या विवाह करूँ! यह तो आज है, कल मर जायगा। फिर चिर-वैधव्य! 'अमर-पुरुष'से ही विवाह क्यों न किया जाय।' अन्तमें फूलीने 'अमर-पुरुष'से विवाह करनेका निश्चय किया। नानाको उसने स्पष्ट कह दिया कि मैं विवाह नहीं करूँगी। नानाने समझाया-बुझाया, पर फूलीने एक न सुनी। फूलीको उसके पूर्व-संस्कारोंने बल-संबल दिया। फूलीने स्पष्ट कहा—

फूली कयो कुँवारी परणै, मैं तो पारब्रह्म पति शरणै।

—'विवाह तो कुमारीका होता है। मेरा पति तो परब्रह्म है, फिर मैं दूसरा विवाह कैसे करूँ?'

इस तर्कके सामने नानाको झुकना पड़ा। उसने झुँझलाकर पूछा—'बता, तेरा पति कहाँ है?' फूलीने उत्तर दिया—

फूलीको परमेसर ऐसो, बेद-पुराण न जाणै कैसो।
जनम-मरणमें नाहिन प्यारो, सो है फूलीको भरतारो॥

फूलीने हिमालय-सी दृढ़ता दिखायी। बारात लौट गयी। गाँव-गाँवमें यह चर्चा फैल गयी। फूली अपने घरका काम-काज करती और अपना समय 'संत-समागम'-में बिताने लगी। यहाँ राजमहिषी मीराँकी तरह 'सन्त ढिग बैठ-बैठ' लोक-लाज खोनेकी न कोई विशेष आशङ्का थी और न भय-भीति। संतोंसे उसने बहुत कुछ पाया। दूर-दूरतक फूलीका नाम फैल गया। वह अपने-आपमें डूब गयी, उसे जो कुछ आत्म-रस मिला, उसके द्वारा उसके अध्यात्मका द्वार खुल गया। दूर-दूरसे चलकर साधुओंके दल-के-दल फूलीबाईके दर्शनके लिये आते। वह सबका यथोचित स्वागत-सत्कार करती।

एक बार एक साधु-मण्डली फूलीबाईका दर्शन कर काबुलकी ओर जा निकली। महाराजा जसवन्तसिंह भी उस समय उधर ही ससैन्य विचर रहे थे। महाराजाका पता लगनेपर साधुओंने आपसमें काना-फूँसी करनी आरम्भ की। वे आपसमें कहने लगे—'महाराजासे बातें न करना। ये फूलीबाईके देशके हैं। निःसंदेह कोई बड़े तत्त्वज्ञानी होंगे।'—

आप आप मत बोलियो, जसवँत बडो नरेस।
इण राजा का राज वाँ, जाँ फूली को देस॥

महाराजाने साधुओंको सादर अपने पास बुलाया। उनके द्वारा फूलीबाईकी अनन्य भक्ति-भावनाका परिचय पाकर महाराज बड़े प्रसन्न हुए और दर्शनके लिये लालायित हो गये। वे मौका पाकर मारवाड़की ओर चल पड़े और जोधपुर न जाकर सीधे 'माँझवास' पहुँचे। गाँवके किनारे फौजने डेरा डाल दिया। महाराज पैदल फूलीबाईसे मिलने चल पड़े। फूलीबाई उस समय गृहकार्यमें व्यस्त थी। वह गायोंके बाड़ेमें गोबर एकत्र कर रही थी और उससे थेपड़ी थाप (कंडे बना) रही थी। महाराजा वहीं पहुँचे। महाराजकी ओर उसने उड़ती दृष्टिसे देखा और फिर अपने काममें ऐसे लग गयी, जैसे कुछ भी न हुआ हो। महाराज पास आकर खड़े हो गये। जमीन ऊँची-नीची, गोबरसे भरी हुई और गंदी—महाराजने एक दृष्टि डाली। वे पूर्ववत् चित्र-से खड़े रहे। इतनेमें अचानक गोबरका एक छींटा महाराजाके सुन्दर रत्नोंसे जगमग कौशेय वस्त्रोंपर आ लगा। वे सिकुड़े-सिमटे, झुँझलाये-से—ताड़ित-से होकर विस्फारित आँखोंसे फूलीकी ओर घूरने लगे। महाराजका हाथ कपड़ोंसे दागको छुड़ानेमें लग गया। ठीक अवसर पाकर फूलीने अपनी गर्दन ऊपर उठायी और बोली—

रजोगुण तो नहिं गयो, आयो करण समाज॥
ऐसो पीछो कहा करै, निश्चक कर के मन।
झुम्मो सिर को पालको, साडी सिकसी तन॥

माटी सूँ ही उपज्यो, फिर माटी हुय जाय ।
फूली कहै राजा सुनो, कर ल्यो भजन उपाय ॥
स्वान-काग-जंबुक भखैं, जल-बल होसी खेह ।
ऐसी गंदी देह कूँ, ऊँचो करियो केह ॥

—'बस इसी बल-बूतेपर मुझसे मिलने आये थे ? अब भी तुममें राजकीय रजोगुणी संस्कार प्रबल है । यह नाशवान् शरीर—इसे क्या ऊँचा-नीचा कर रहे हो । अपने मनको वशमें करो । यह तुम्हारा चोगा, यह तुम्हारे मस्तकका मुकुट और यह तुम्हारा शरीर—ये सब एक दिन मिट्टीमें मिल जायँगे । फिर भी इनके प्रति इतना ममत्व ? तुम मिट्टीसे बने हो, एक दिन मिट्टीमें ही मिल जाओगे । भजन करो—उबरनेका उपाय यही है । यह शरीर एक दिन जल-बलकर राख हो जायगा । इसे कुत्ते, कौए और सियार खा जायँगे । इतना गंदा शरीर—फिर भी इतनी सार-सँभाल ?'

फूलीके व्यङ्ग्य वचनोंने महाराजाके पुस्तकीय अध्यात्म-ज्ञानपर तीव्र कशाघात किया । अपनेको सँभालते हुए महाराजाने एक और परीक्षा ली । फूलीकी बातें अनसुनी करते हुए महाराजाने भोलेपनके साथ पूछा— 'फूली ! तुम्हारा नाम फूली क्यों है ?'

भला, यह भी कोई प्रश्न था और इसका उत्तर भी क्या कुछ हो सकता था ? पर फूलीने उत्तर दिया—'महाराज ! जबतक साँस है, तबतक फूली तो क्या, पता नहीं और कितने ही नाम होंगे । जिस दिन इस शरीरसे छुटकारा मिलेगा, उस दिन तो एक ही नाम होगा—पूर्ण ।'

महाराजा बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने फूलीबाईसे 'धर्म-बहिन' बननेके लिये कहा । पाँच मुहरें निकालकर देनेको आगे हाथ बढ़ाया । फूलीको जैसे मालूम हुआ—ये स्वर्णमुद्राएँ उसकी दीनताका उपहास हैं और उसकी निर्लोभताको एक प्रबल चुनौती है । फूलीने कहा—

'महाराज ! यह सब कुछ नहीं होगा । हमारा सम्बन्ध तो केवल भक्तिका है । आप मेरे घर आये हैं, मेरा ही रूखा-सूखा आतिथ्य स्वीकार कीजिये । मैं दीन-हीन जाटनी आपका राजसी आतिथ्य करनेमें असमर्थ हूँ । फिर भी, आपको मेरा प्रेम-परोसा भोजन स्वीकार करना होगा ।

दोय-दोय डबरा राबड़ी, दोय-दोय सोगरा* राज ।
रच-रच जीमो प्रीत सूँ, घर फूलीके आज ॥

महाराजा फूलीके प्रेमभरे आतिथ्यको न टाल सके । महाराजा सोचते थे—यह दीन जाटनी हमारा आतिथ्य कैसे कर सकेगी । उसी समय सहसा एक अद्भुत चमत्कार हुआ ।

जेता मानख तेती फूली, पातल-पातल पुरसे थूली ।
राजा जसवँत इत-उत झाँकै, या लाधाँ पत साहब राखै ॥

राजा जसवन्तसिंहजीका मुकुट-मण्डित मस्तक उस जाटनीके चरणोंमें झुक गया । महाराजाने हाथ जोड़कर प्रार्थना की—'बाई ! आजसे तुम मेरी 'धर्म-बहिन' हो । मेरे साथ चलकर राजमहलोंको पवित्र करो तथा रानियोंका अपने अमृतभरे उपदेशोंसे उद्धार करो ।'

महाराजा जसवन्तसिंह जोधपुर पहुँचे । फूलीबाईके आनेका संवाद राजमहलोंमें फैल गया । महल सजाये गये । रानियाँ वस्त्राभूषणोंसे सज-धजकर स्वागतके लिये तैयार थीं । इतनेमें साधारण गँवारू वेषमें एक स्त्री सीढ़ियोंसे होती महलोंमें घुसती दिखायी दी । रानियाँ चकित रह गयीं । वे सोचने लगीं—क्या इसीके स्वागत-सत्कारका इतना समारोह ! उनका सिर चकराने लगा । एक गँवार जाटनी, ऊँचा-ऊँचा घुटनोंतक घाघरा, बाल जटाओंकी तरह उलझकर इधर-उधर बिखरे हुए—जिनमें न कंघी न तेल । फूलीबाई निडर-निःसंकोच वानरीकी तरह उछलकर रानियोंके बीच बैठ गयी ।

* बाजरेके रोट ।

फूलीने पहले-पहल यह राजकीय सज-धज देखी थी, पर वह चकित नहीं हुई। फूलीकी आँखोंने इस वैभवके पीछे छिपे हुए नाशके कंकालको देखा, इसलिये वह इस चमक-दमकसे अभिभूत नहीं हुई। रानियाँ उसे आँख फाड़कर देखने लगीं।

फूलीने समझाना आरम्भ किया—

टगमग-टगमग थे काँई जोवो, जनम अमोलक थे क्यूँ खोवो।
गहणो-गाँठो तनकी सोभा, काया काचो भाँडो॥
फूली कहै थे राम भजो नित, और उपाधी छाँडो।
राम भजो हे राणियाँ, कह्यो हमारो मान॥
भजन बिना भवमें सभी, सूकर स्वान समान।
चेतन भाँडो फूटसी कहा कीजै सिणगार॥
इण त्रिषणा रे कारणै, फेरा फिरौ अपार।
क्या इंदर क्या राजवी, क्या सूकर क्या स्वान॥
फूली तीन्यूँ लोकमें, कामी एक समान।
राम सबद साँचो सदा, और सबद सब कूड़॥
फूली कहै इण सबद बिन, पड़सी सिरपर धूड़।
सायर ऊपर सिला तिरमणी, फूलीका पति सुणज्यो राणी॥

पर फूलीके इन अनुभवभरे उपदेशोंको सौन्दर्य-सुरा और विलास-वारुणीके अथाह सागरमें डूबी हुई वे रानियाँ न समझ सकीं। फूली निराश हो गयी, उसे अपना श्रम बिना बीज ही खेतमें हल चलानेके समान निष्फल मालूम हुआ।

राम न बोलै राणियाँ, फूली कियो बिचार।
उलट चलौ घर आपणै, लखै न सारासार॥

फूलीबाई खिन्न होकर घर जानेको प्रस्तुत हो गयी। महाराजा जसवन्तसिंहजीको मालूम हुआ तो वे दौड़े आये। फूलीबाईसे स्नेहभरे अनुरोधके साथ रुकनेके लिये कहा। महाराजा सांख्य-दर्शनके पारदर्शी विद्वान् थे, पर अनुभव-ज्ञानके सामने उसका मूल्य दो कौड़ी भी नहीं! कबीरने इसी अनुभवपर तो शब्दके पण्डितोंको ललकारा था। फूलीबाई ठहर गयी। उपयुक्त पात्रको पाकर उसका हृदय फूल उठा। फूलीबाईने कुछ दिन रहकर ज्ञानोपदेश दिया। फूलीके उपदेशोंका सार गोस्वामी तुलसीदासजीके शब्दोंमें शास्त्र-वेद-विलोडितसे 'नवनीत'के समान निकलनेवाले 'राम-नाम' रूपमें ही था।

राम बिना केहि काम को सांख्य जोग अभ्यास।
फूली परमानंद बिन कुण पूरैलो आस॥

फूलीको सिद्धिमें न विश्वास था और न वह उसकी महत्ता ही मानती थी—

कोइ कंचन कर देत है, धरती अंबर दोय।
फूली तो मानै नहीं, राम नाम बिन कोय॥

जप-तपको फूलीबाईने राम-भजन बिना व्यर्थ ही बतलाया है—

बिना बीज हल फेरियाँ फल नहीं पावै कोय।

राम-नामके बिना तीर्थ-भ्रमण भी किसी कामका नहीं—

भ्रमको भूल्यो तीरथ जावै, भटका खाय उलट घर आवै।
भ्रमको भूल्यो सेव करावै, अंतकाल पत्थर हो ज्यावै॥

अन्तमें फूलीबाईने राजासे सौ बातोंकी एक बात यह कही—

सौ बातोंकी एक ही, सुन ले राजा बीर।
सुरत तारमें पोयलै, राम-नामका हीर॥

फूलीके अनुभवभरे उपदेशोंसे राजाने ज्ञानका प्रकाश पाया। उनका ग्रन्थ-ज्ञानका दम्भ दूर हो गया।

सचमुच धन्य है उस देशको, जहाँ फूलीने अपनी भक्ति-साधना की। ऐसे ही संत-महात्माओंके पावन चरित्र युग-युगतक अमर रहकर ज्ञानका प्रकाश फैलाते रहते हैं।

अन्तमें हम भी फूलीबाईके चारु चरित्रको पद्यबद्ध कर गानेवाले संत कृष्णदासके शब्दोंमें कहेंगे—

धन धन फूली देस घर, धन वह शहर मुकाम।
जसवँतको संसय मिट्यो, निरभै पायो राम॥

गीता-तत्त्व-चिन्तन

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

गीतामें भगवान्‌की न्यायकारिता और दयालुता

जहाँ न्याय किया जाता है, वहाँ दया नहीं हो सकती और जहाँ दया की जाती है, वहाँ न्याय नहीं हो सकता। कारण कि जहाँ न्याय किया जाता है, वहाँ शुभ-अशुभ कर्मोंके अनुसार पुरस्कार अथवा दण्ड दिया जाता है और जहाँ दया की जाती है, वहाँ दोषीके अपराधको क्षमा कर दिया जाता है, उसे दण्ड नहीं दिया जाता। तात्पर्य यह है कि न्याय करना और दया करना—ये दोनों आपसमें विरोधी हैं। ये दोनों एक जगह रह ही नहीं सकते। जब ऐसी ही बात है तो फिर भगवान्‌में न्यायकारिता और दयालुता—दोनों कैसे हो सकती हैं? परंतु यह अड़चन वहाँ आती है, जहाँ कानून (विधान) बनानेवाला निर्दयी हो। जो दयालु हो, उसके बनाये गये कानूनमें न्याय और दया—दोनों रहते हैं। उसके द्वारा किये गये न्यायमें भी दयालुता रहती है और उसके द्वारा की गयी दयामें भी न्यायकारिता रहती है। भगवान् सम्पूर्ण प्राणियोंके सुहृद् हैं—**'सुहृदं सर्वभूतानाम्'** (५। २९); अतः उनके बनाये हुए विधानमें दयालुता और न्यायकारिता—दोनों रहती हैं।

भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि मनुष्य अन्तसमयमें जिस-जिस भावका स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है, वह उसी भावको प्राप्त होता है अर्थात् अन्तिम स्मरणके अनुसार ही उसकी गति होती है (८। ६)। यह भगवान्‌का न्याय है, जिसमें कोई पक्षपात नहीं है। इस न्यायमें भी भगवान्‌की दया भरी हुई है। जैसे अन्तसमयमें यदि कोई कुत्तेका स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है तो वह कुत्तेकी योनिको प्राप्त हो जाता है और यदि कोई भगवान्‌का स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है तो वह भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जितने मूल्यमें कुत्तेकी योनि मिलती है, उतने ही मूल्यमें भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार भगवान्‌के कानूनमें न्यायकारिता होते हुए भी महान् दयालुता भरी हुई है।

सदाचारी-से-सदाचारी साधनपरायण मनुष्य अन्त-समयमें भगवान्‌का चिन्तन करता हुआ शरीर छोड़ता है तो उसे भगवत्प्राप्ति हो जाती है, ऐसे ही दुराचारी-से-दुराचारी मनुष्य भी किसी विशेष कारणसे अन्तसमयमें भगवान्‌का स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है तो उसे भी भगवत्प्राप्ति हो जाती है (८। ५)। यह भगवान्‌की कितनी दयालुता और न्यायकारिता है!

भगवान्‌ने कहा है कि दुराचारी-से-दुराचारी मनुष्य भी यदि मेरी ओर चलनेका दृढ़ निश्चय करके अनन्य भावसे मेरा स्मरण करता है तो उसे साधु ही मानना चाहिये। वह बहुत जल्दी धर्मात्मा बन जाता है और सदा रहनेवाली शान्तिको प्राप्त हो जाता है (९। ३०-३१)। जब दुराचारी-से-दुराचारी मनुष्य भी भगवद्भक्त हो सकता है और शाश्वती शान्तिको प्राप्त हो सकता है, तो फिर भगवद्भक्त भी दुराचारी, पापात्मा बन सकता है और उसका भी पतन हो सकता है; परंतु भगवान्‌का कानून ऐसा नहीं है। भगवान्‌के कानूनमें बहुत ही दया भरी हुई है कि दुराचारीका तो कल्याण हो सकता है, पर भक्तका कभी पतन नहीं हो सकता—**'न मे भक्तः प्रणश्यति'** (९। ३१)। इसमें भगवान्‌की न्यायकारिता और दयालुता—दोनों ही हैं।

यहाँ एक शङ्का हो सकती है कि यदि भक्तका कभी पतन नहीं होता, तो फिर भगवान्‌ने अर्जुनको

अपना भक्त स्वीकार करते हुए ऐसा क्यों कहा कि यदि तू अहंकारके कारण मेरी बात नहीं मानेगा तो तेरा पतन हो जायगा (१८ । ५८) ? इसका समाधान यह है कि जब भक्त अभिमानके कारण भगवान्‌की बात नहीं मानेगा, तब वह भक्त नहीं रहेगा और उसका पतन हो जायगा; परंतु यह सम्भव ही नहीं है कि भक्त भगवान्‌की बात न माने । अर्जुनको तो भगवान्‌ने केवल धमकाया है, डराया है । वास्तवमें अर्जुनने भगवान्‌की बात मानी है और उनका पतन नहीं हुआ है (१८ । ७३) ।

जो सकामभावसे शुभ कर्म करता है, उसे शुभ कर्मके अनुसार स्वर्ग आदिमें भेजना—यह भगवान्‌का न्याय है; और वहाँ पुण्यकर्मोंका फल भुगताकर उसे शुद्ध करना—यह दया है । ऐसे ही जो अशुभ कर्म करता है, उसे नरकों और चौरासी लाख योनियोंमें भेजना—यह न्याय है; और वहाँ पापकर्मोंका फल भुगताकर उसे शुद्ध करना, उसे अपनी ओर खींचना—यह दया है । जैसे किसीको लम्बे समयतक कोई कष्ट-दायक बीमारी आती है तो जब वह ठीक हो जाती है, तब उस व्यक्तिको भगवान्‌की कथा, भगवन्नाम आदि अच्छा लगता है । इस प्रकार कर्मोंके अनुसार बीमारीका आना तो न्यायकारिता है और उसके फलस्वरूप भगवान्‌में रुचिका बढ़ना दयालुता है ।

मनुष्य पाप, अन्याय आदि तो स्वेच्छासे करते हैं और उनके फलस्वरूप कैद, जुर्माना, दण्ड आदि परेच्छासे भोगते हैं । इसमें कर्मोंके अनुसार दण्ड आदि भोगना तो न्यायकारिता है और समय-समयपर 'मैंने गलती की, जिससे मुझे दण्ड भोगना पड़ रहा है । यदि मैं गलती न करता तो मुझे दण्ड क्यों भोगना पड़ता ?'—इस तरहका जो विचार आता है, होश आता है—यह भगवान्‌की दयालुता है ।

कर्मोंके अनुसार अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति भेजना—यह भगवान्‌की न्यायकारिता है; और अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिमें सुखी-दुःखी न होनेसे मनुष्यका कल्याण हो जाता है—यह भगवान्‌की दयालुता है ।

शङ्का—श्रुतिमें आता है कि यह ईश्वर जिसे ऊर्ध्वगतिमें ले जाना चाहता है, उससे शुभकर्म कराता है और जिसे अधोगतिमें ले जाना चाहता है, उससे अशुभकर्म कराता है—**'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते एष ह्येवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते'** (कौषीतकि० ३ । ८) । अतः इसमें भगवान्‌की न्यायकारिता और दयालुता क्या हुई ? केवल पक्षपात, विषमता ही हुई ?

समाधान—इस श्रुतिका तात्पर्य शुभकर्म करवाकर ऊर्ध्वगति और अशुभकर्म करवाकर अधोगति करनेमें नहीं है, प्रत्युत प्रारब्धके अनुसार कर्मफल भुगताकर उसे शुद्ध करनेमें है अर्थात् जीव अपने शुभ-अशुभ कर्मोंका फल जिस तरहसे भोग सके, उसी तरहसे परिस्थिति और बुद्धि बना देते हैं । जैसे शुभ कर्मोंके अनुसार किसी व्यापारीको मुनाफा होनेवाला है तो उस समय भगवान् वैसी ही परिस्थिति और बुद्धि बना देते हैं, जिससे वह सस्ते दामोंमें वस्तुएँ खरीदेगा और महँगे दामोंमें बेचेगा; अतः उसे खरीद और बिक्री—दोनोंमें मुनाफा-ही-मुनाफा होगा । ऐसे ही अशुभ कर्मोंके अनुसार किसी व्यापारीको घाटा लगनेवाला है तो उस समय भगवान् वैसी ही परिस्थिति और बुद्धि बना देते हैं, जिससे वह महँगे दामोंमें वस्तुएँ खरीदेगा और भाव गिरनेसे सस्ते दामोंमें बेचेगा; अतः उसे खरीद और बिक्री—दोनोंमें घाटा-ही-घाटा लगेगा । इस तरह कर्मोंके अनुसार मुनाफा और घाटा होना तो भगवान्‌की न्यायकारिता है और जिससे मुनाफा और घाटा हो सके, वैसी परिस्थिति और बुद्धि बना देना, जिससे शुभ-अशुभ कर्मबन्धन कट जाय—यह भगवान्‌की दयालुता है ।

यदि श्रुतिका अर्थ शुभ-अशुभ कर्म करवाकर मनुष्यकी ऊर्ध्व-अधोगति करनेमें ही लिया जाय तो भगवान् न्यायकारी और दयालु हैं—यह बात सिद्ध नहीं होगी। भगवान् सम्पूर्ण प्राणियोंमें सम हैं, उनका किसी भी प्राणीके साथ राग-द्वेष नहीं है—यह बात भी सिद्ध नहीं होगी। ऐसा काम करो और ऐसा काम मत करो—शास्त्रोंका यह विधि-निषेध भी मनुष्यके लिये लागू नहीं होगा। गुरुकी शिक्षा, संत-महापुरुषोंके उपदेश आदि सब व्यर्थ हो जायँगे। जिससे मनुष्य कर्तव्य-अकर्तव्यका विचार करता है, वह विवेक व्यर्थ हो जायगा। मनुष्यजन्मकी विशेषता, स्वतन्त्रता भी समाप्त हो जायगी और मनुष्य पशु-पक्षियोंकी तरह ही हो जायगा अर्थात् वह अपनी ओरसे कोई नया काम नहीं कर सकेगा, अपनी उन्नति, उद्धार भी नहीं कर सकेगा!

गीतामें त्रिविध रतियाँ

साध्यसाधनरूपाभ्यां प्रसिद्धा रतयस्त्रिधा।
आदौ साधनरूपास्ता अन्ततो यान्ति साध्यताम्॥

एक 'आसक्ति' होती है और एक 'रति' (प्रीति) होती है। ये दोनों सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं। आसक्तिमें अपने सुखकी इच्छा रहती है और रतिमें अपने सुख (स्वार्थ) का त्याग और दूसरेके हितकी इच्छा रहती है। आसक्ति जडताको लेकर होती है और रति चिन्मय तत्त्वको लेकर होती है। आसक्तिसे पतन होता है और रतिसे कल्याण होता है। आसक्तिमें विनाशी वस्तुओंका महत्त्व रहता है और रतिमें अविनाशी तत्त्वका महत्त्व रहता है। आसक्तिसे अवनति होती है और रतिसे उन्नति होती है। अतः मनुष्यमें आसक्ति नहीं होनी चाहिये, प्रत्युत रति होनी चाहिये। अतः गीतामें कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों ही योगोंमें आसक्तिका त्याग करनेकी बात आयी है। जैसे कर्मयोगमें **'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि'** (२। ४७), **'सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये'** (५। ११) आदि; ज्ञानयोगमें **'असक्तिरनभिष्वङ्गः'** (१३। ९), **'असक्तबुद्धिः सर्वत्र'** (१८। ४९) आदि; और भक्तियोगमें **'सङ्गं त्यक्त्वा'** (५। १०), **'सङ्गवर्जितः'** (११। ५५) आदि।

तीनों ही योगोंमें पहले साधनमें रति होती है, फिर वही रति अपने लक्ष्य, ध्येयमें परिणत हो जाती है। जैसे—

कर्मयोगीकी अपने कर्तव्य-कर्मको करनेमें रति होती है—**'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः'** (१८। ४५), फिर वही रति अपने स्वरूपमें हो जाती है—**'यस्त्वात्मरतिः'** (३। १७)।

ज्ञानयोगी सबको अपना स्वरूप समझता है। अतः पहले उसकी सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रति होती है—**'सर्वभूतहिते रताः'** (५। २५; १२। ४), फिर वही रति अपने स्वरूपमें हो जाती है—**'योऽन्तःसुखोऽन्तरारामः'** (५। २४)।

भक्तियोगीकी रति पहले भगवान्‌के नामजप, कथा-कीर्तन, गुणगान आदिमें होती है—**'रमन्ति'** (१०। ९) फिर वही रति भगवान्‌में हो जाती है—**'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः'** (७। १७)।

गीतामें भगवान्‌की शक्तियाँ

आद्या गुणमयी दैवी तथान्या दिव्यचिन्मयी।
योगमायेति च प्रोक्ता गीतायां पञ्च शक्तयः॥

गीतामें भगवान्‌की पाँच शक्तियोंका वर्णन हुआ है; जैसे—

(१) **मूलप्रकृति**—महाप्रलयके समय सम्पूर्ण प्राणी इसी मूल प्रकृतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् इसी मूल प्रकृतिमें लीन होते हैं—**'सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्। कल्पक्षये.........'** (९। ७)

महासर्गके समय भगवान् इसी मूल प्रकृतिको वशमें करके अपने-अपने स्वभावके वशमें हुए प्राणियोंकी रचना करते हैं अर्थात् सृष्टिकी रचना करते हैं—**'प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य·········प्रकृतेर्वशात्'** (९ । ८); और यही प्रकृति भगवान्‌की अध्यक्षतामें सम्पूर्ण संसारकी रचना करती है (९ । १०) । इसी मूल प्रकृतिको भगवान्‌ने **'मम योनिर्महद्‌ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्'** (१४ । ३) और **'तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता'** (१४ । ४)—इन पदोंसे सम्पूर्ण प्राणियोंका उत्पत्ति-स्थान और अपनेको बीज प्रदान करनेवाला पिता बताया है ।

(२) **दिव्य चिन्मय शक्ति**—भगवान् स्वयं जब कभी अवतार लेते हैं, तब इसी दिव्य चिन्मय-शक्तिका आश्रय लेकर लेते हैं । इसी शक्तिसे भगवान् भक्तोंको आनन्द देनेवाली प्रेमकी लीला करते हैं । यह शक्ति दिव्य चिन्मय गुणोंवाली होती है । अतः भगवान्‌का अवतारी शरीर भी दिव्य चिन्मय होता है । इसी दिव्य चिन्मय शक्तिको भगवान्‌ने **'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवामि'** (४ । ६) पदोंसे कहा है ।

(३) **योगमाया-शक्ति**—इसी शक्तिसे सामान्य प्राणी भगवान्‌को मनुष्य मानकर उनकी अवहेलना करते हैं । इस शक्तिसे ब्रह्माजी भी मोहित हो जाते हैं । इसी योगमाया-शक्तिको भगवान्‌ने **'आत्ममायया'** (४ । ६) और **'योगमायासमावृतः'** (७ । २५) पदोंसे कहा है ।

(४) **दैवी प्रकृति**—'देव' नाम भगवान्‌का है । भगवान्‌की प्रकृति (स्वभाव) होनेसे यह 'दैवी प्रकृति' कहलाती है । इसमें दया, क्षमा, अहिंसा आदि दैवी गुण रहते हैं । साधक भक्त इस दैवी प्रकृतिका आश्रय लेकर भगवान्‌की ओर चलते हैं—**'महात्मानस्तु मां पार्थ·········भूतादिमव्ययम्'** (९ । १३) । इसीको 'दैवी सम्पद्' नामसे कहा गया है (१६ । ३ । ५) । साक्षात् भगवान्‌का अंश होनेसे जीवमें इस दैवी सम्पत्तिके गुण स्वतः-स्वाभाविक रहते हैं; परंतु जबतक यह जीव भगवान्‌से विमुख रहता है, तबतक ये गुण उसमें प्रकट नहीं होते, विकसित नहीं होते, प्रत्युत दबे रहते हैं; परंतु जब वह भगवान्‌के सम्मुख हो जाता है, तब उसमें ये गुण स्वतः-स्वाभाविक प्रकट होने लगते हैं, विकसित होने लगते हैं ।

(५) **गुणमयी माया**—यह माया लौकिक सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंवाली है । इस मायाके साथ जीव जितना ही घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़ता है, अपनेको उसका अधिपति मानता है और उससे सुख लेना चाहता है, उतना ही वह उसमें मोहित हो जाता है, उसके अधीन हो जाता है और उसमें फँस जाता है । इसी गुणमयी मायाको भगवान्‌ने प्रकृति (३ । २७, २९; १३ । १९—२१, २३, २९, ३४; १४ । ५), अपरा प्रकृति (७ । ४-५), दैवी गुणमयी माया (७ । १४-१५), माया (१८ । ६१) और अव्यक्त (१३ । ५) नामसे कहा है । इस गुणमयी मायामें अत्यधिक तादात्म्य, ममता, आसक्ति होनेसे यह माया ही आसुरी, राक्षसी और मोहिनी-रूप धारण कर लेती है (९ । १२) ।

वास्तवमें भगवान्‌की शक्ति एक ही है, जो भगवत्स्वरूपा है । उसी शक्तिको लेकर भगवान् सृष्टि-रचना आदि भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं, अनेक प्रकारकी लीलाएँ करते हैं । अतः वह एक ही शक्ति कार्य या लीलाके अनुसार उपर्युक्त पाँच नामसे कही जाती है ।

कहानी

तू ही बता, किसे अलग करूँ ?

अपने तीनों पुत्र—जयन्त, महेश और सुरेश तथा तीनों पुत्रवधुओंके आग्रहपर बापूजीने अपनी पुत्रीके समीप बाहर जाना स्वीकार कर लिया था। वे बहुत समयसे उदररोगसे पीडित थे। अतः ठीकसे चिकित्सा करानेहेतु पुत्री लता तथा उसके पति पंकज उन्हें आग्रहपूर्वक अपने यहाँ बुला रहे थे। जानेका दिवस अत्यन्त समीप आ जानेसे बापूजीने सलाहसूचना देनेके लिये सबको बुलाया था।

'देखो, तुम्हारा बहुत आग्रह है तो मैं दवाके लिये चला जाता हूँ, परंतु अब मेरी ऐसी अवस्था हो गयी है कि धड़-धड़ करती हृदयकी धड़कन कब बंद हो जाय, इसका विश्वास नहीं है। इसलिये लौटकर सकुशल आऊँगा या नहीं, इसका क्या पता है? तुम तीनों भाइयोंमें एक-दूसरेके प्रति बहुत प्रेम है, यह मैं जानता हूँ, मेरे न रहनेपर जयन्त सबका उत्तरदायित्व सँभाल लेगा, ऐसा मेरा विश्वास है; फिर भी मैं चाहता हूँ कि तुम तीनों अपनी-अपनी वस्तुएँ तथा सम्पत्ति लेकर अलग-अलग हो जाओ। भगवान्‌की कृपासे तुमलोगोंकी भाँति तुम्हारी पत्नियोंके बीच भी बहुत प्रेम तथा स्नेह है। यह सब ज्यों-का-त्यों ही सुरक्षित रहे, इसलिये मैंने विचार किया है कि जयन्त अपनी पत्नी तथा बच्चोंके साथ इसी घरमें रहे, महेश अपने परिवारसहित जनकपुरीवाले बँगलेमें और सुरेश मणिनगरवाले मकानमें रहे। फैक्ट्रीमें तो तुम तीनोंके अलग-अलग भाग हैं, इससे उसमें कोई अड़चन नहीं है, परंतु मेरे समक्ष ही तुम्हारे घर भी अलग-अलग हो जायँ और तुम तीनों भाई अपने-अपने संसारमें भलीभाँति गठित हो जाओ—यह देखनेकी मेरी हार्दिक इच्छा है।'

'बापूजी! आप स्वस्थ तो हैं न? यह क्या बोल रहे हैं आप? आपने जिस अटूट प्रेम-बन्धनमें हम सबको बाँध दिया है, उससे अलग होनेका हमें स्वप्नमें भी विचार नहीं आता। क्या हो गया है आपको?'—सबने एक साथ पूछा।

'हाँ बेटा! सम्पूर्ण स्वस्थ हूँ और शान्तचित्तसे विचार कर सकता हूँ। बहुत लम्बी अवधितक विचार करनेके पश्चात् मैंने यह निर्णय लिया है। तुम तीनोंमें कभी झगड़ा नहीं होगा—यह मैं अच्छी तरह जानता हूँ, परंतु अब बच्चे बड़े हो रहे हैं। आज नहीं तो कल कुणालकी बहू आयेगी, ऋद्धि ससुराल चली जायगी, दिनेशका विवाह भी हो जायगा। तब क्या मेरी यह तीसरी पीढ़ी भी साथ-साथ रह सकेगी? अतः मैं अभीसे अपनी उपस्थितिमें ही तुम सबको स्वतन्त्र करता जाऊँ, जिससे मेरे मनमें शान्ति रहेगी।'

'नहीं, ऐसा किसी कालमें नहीं हो सकता। देखें, हमें कौन अलग करता है?'—सुरेश चिल्लाया।

ऐसा एक दिन अवश्य होना है और यह आवश्यक भी है। तुममेंसे किसीने मेरी इच्छाके विरुद्ध कभी कोई काम नहीं किया है और यह मेरी अन्तिम इच्छा है। क्या तुमलोग इसे पूरी नहीं करोगे?'

तीनों भाई स्तब्ध बने एक-दूसरेकी ओर देखने लगे। बापूजीको अप्रसन्न करनेका किसीमें साहस नहीं था। जिन बापूजीने अत्यन्त ममता और सावधानीसे छोटी बच्ची मधुसे लेकर जयन्ततक सब एक ही हैं—इस भावनाका बीज सबमें बोया था तथा उसे अपने प्रेमसे सतत सिञ्चन करके इतना बड़ा वटवृक्ष-जैसा बनाया था, वे ही बापूजी अपने स्वयंके हाथों उसकी

शाखाएँ अलग करनेपर जुटे हैं। माननेमें न आये ऐसी बात थी यह। दुःख, आश्चर्य और दिङ्मूढ़तासे स्तब्ध बने जयन्तको तो कुछ उत्तर ही नहीं सूझ रहा था।

'आजकल दिन भी अच्छे हैं। एक-दो दिनमें ही तुम अलग हो जाओ। दोनों घरोंमें तमाम फर्नीचर तथा अन्य वस्तुएँ हैं ही, इससे तुम्हें अधिक अड़चन न होगी। मैं तुम सबके यहाँ दो-दो दिन रहकर तत्पश्चात् संतोषके साथ ही बाहर जाऊँगा।'—बापूजीने आग्रहपूर्वक कहा।

थोड़ी देरके लिये तो घरमें भारी हलचल मच गयी, परंतु बाहर जानेसे पूर्व बापूजीको ऐसा न लगे कि लड़कोंने मेरा कहना नहीं माना, ऐसा विचारकर सुरेश अपने दोनों बच्चों—सरिता और मीनूको लेकर नीताके साथ मणिपुरवाले बँगलेमें चला गया। महेश दीनू और मधुको लेकर पत्नी रेखाके साथ जनकपुरी गया और अम्बावाड़ीवाले इस घरमें बापूजीके साथ जयन्त, उसकी पत्नी ऊषा और तीनों बच्चे ऋद्धि, कुणाल और कौशल रह गये।

× × ×

'दीदी! इतनी रातमें तुम अकेली कहाँ जा रही हो?' सातों भाई-बहनोंमें ऋद्धिके बड़ी होनेसे सब उसे दीदी कहते थे।

'माँ! बहिन सरिताके बिना तो मुझे नींद ही नहीं आ रही है। सरिताका पलँग खाली देखकर तो मुझे रोना आता है। तुम्हें तो पता है कि सरिताके बिना एक पल भी मुझे अच्छा नहीं लगता। मैं तो उसके बिना नहीं रह सकती, अभी लेने जा रही हूँ।'

'हाँ माँ! देखो न, घर कैसा सूना-सूना लग रहा है। दीनू और मधुके बिना मुझे अच्छा ही नहीं लगता। दीदी! खड़ी रह, मैं भी आ रहा हूँ।' कहकर कुणाल झटपट तैयार होने गया, तो ऊषाको ही कब अच्छा लगता था, परंतु वह अपने दोनों बच्चोंकी तरह सबको बुलाने जानेकी स्थितिमें न थी। पूरा घर उसे खाने दौड़ता था। सुरेश भाई और महेश भाईकी 'भाभी-भाभी'की आवाज मानो उसे बार-बार सुनायी पड़ती थी। सभी बच्चोंकी 'माँ-माँ' करती ध्वनि उसके कानोंमें गूँज रही थी। इस समय तो उसने अपने नित्यके स्वभावके अनुसार सरिताके लिये दूधका गिलास भी तैयार किया था, परंतु बादमें उसकी अनुपस्थितिका स्मरण आते ही उसके नेत्रोंमें अश्रु छलक आये थे।

× × ×

'मेरी बेटी कितनी अच्छी है। ले, जल्दी दूध पी ले तो।'

'नहीं, मैं नहीं पीऊँगी, माँके हाथसे पीऊँगी।' सरिताका एक ही रिकार्ड चालू था। 'माँके पास जाऊँगी, माँके पास जाऊँगी।'

'ले दूध पी ले। फिर मैं तुझे ले चलूँगी।'

'नहीं, नहीं पीऊँगी।' नीताने सरिताको कितना मनाया, कितना लालच दिया, परंतु सदैव ऊषाकी गोदमें बैठकर दूध पीनेवाली सरिता किसी भी प्रकार एकसे दो नहीं हुई। बालकोंको कैसे मनाना होता है—प्रसन्न करना होता है, यह नीताको कहाँ आता था। दोनों बच्चोंकी देखभाल ऊषाने ही की थी। इसीलिये सरिताकी हठसे थककर उसे क्रोध आ गया और उसने एक थप्पड़ उसे लगा दिया।

'अरे चाची! मेरी बहनको क्यों मारती हो?'—घरमें प्रवेश करते ही दीदीने कहा।

'मारूँ नहीं तो क्या पूजा करूँ? आधे घंटेसे परेशान हूँ, दूध ही नहीं पीती है। अब यहाँ माँ या रेखा चाची थोड़े ही बैठी हैं कि मुझे रसोईका या बाहरका कोई काम नहीं करना पड़ेगा। अब तो सब मुझे ही सँभालना है।' चिढ़ी हुई नीताने कहा। दीदीने नीता चाचीको सदैव प्रफुल्लित ही देखा था।

सभी बच्चोंको प्रेमसे पढ़ाते ही देखा था—इससे उसका ऐसा रूप देखकर उसे एक झटका-सा लगा। इतनेमें तो सरिता दौड़ती हुई आयी और दीदीसे लिपटकर कहने लगी—'मैं चाचीके पास नहीं रहूँगी। मुझे माँके पास ले चलो दीदी!'

'तुझे लेने ही तो आयी हूँ। माँको भी तेरे बिना अच्छा नहीं लगता।'

'बेटी! यदि ले जायगी तो मुझे शान्ति हो जायगी। वैसे तो मुझे भी यहाँ अच्छा नहीं लगता है।'

'अरे मीनू! तू अपनी पढ़ाई छोड़कर यहाँ क्यों चला आया? तेरी तो कल परीक्षा है, उसमें क्या करेगा?'

'नहीं, मेरा मन पढ़नेमें नहीं लगता। मैं तो दीनू भाई, मधु और छोटे कौशलके साथ बैठकर ही पढ़ूँगा। देखो न दीदी! मुझे किसीने आज कसरत भी नहीं करायी।'

'क्यों चाचाने कसरत नहीं करायी?'

'अरे बेटी! क्या तेरे चाचा या मैं इन दोनोंकी सँभाल रख सकते हैं? अपने चाचासे पूछे तो पता लगेगा कि ये दोनों बच्चे उनके अपने ही हैं, इसका भी उन्हें पता नहीं है।'

'हाँ चाची! मेरे अध्यापक भी यही कहते थे कि तेरा घर तो कुछ दूसरा ही है। उसमें कौन किसके बच्चे हैं यह भी पता नहीं लगता।'

'माँने ऐसा किसीको लगने ही नहीं दिया। सभी बच्चे जैसे उन्हींके हैं यही लगता है।'

'हाँ, यह तो है ही। देखो न, कलसे माँने कुछ खाया ही नहीं।'

'हाँ, यह तो मैं पहलेसे ही जानती थी। देख न, विवाहके पश्चात् जब पहली बार मैं ससुराल आयी तब मुझे इतना रोना नहीं आया था, जितना कल वहाँसे यहाँ आते समय आया था। ये दोनों बच्चे तो यहाँ तुमलोगोंके बिना रहेंगे ही नहीं, तो फिर इतने बड़े बँगलेमें मैं भूत-जैसी रहकर क्या करूँगी? मैं भी तुम्हारे साथ ही चलती हूँ। भले तेरे चाचा बापूजीकी इच्छाका पालन करते हुए यहाँ अकेले पड़े रहें।'

इतनेमें तो सुरेश हाथमें टेनिसका रैकेट (बल्ला) लेकर सदाकी भाँति बाहर निकला। तभी उसे स्मरण आया कि यहाँ कहाँ बड़े भाई और महेश हैं कि उनके साथ खेला जायगा और उसके मुखमण्डलपर विषादकी रेखाएँ उभर आयीं और वह मन-ही-मन बड़बड़ा उठा—'ना रे, मैं तो यहाँ नहीं रहूँगा। नीताने आठ वर्षमें कभी रसोईघर देखा भी है कि वह रसोई बना लेगी?' कलके पश्चात् आजका एक दिन कैसे व्यतीत हुआ था यह वही जानता था।

नीताने आज जो रसोई बनायी थी, सुरेशको वह बिल्कुल अच्छी नहीं लगी थी। घरमें पहली बार पग रखनेपर ही बापूजीने नीताको बच्चोंकी पढ़ाईका भार सौंपा था। इस क्षेत्रमें उसने अच्छी तरह रहकर काम किया था। उसका सम्पूर्ण दिवस बच्चोंकी पढ़ाईमें ही व्यतीत होता था। उसे न रसोईसे काम था न बाहरके व्यवहारोंसे। अब एकाएक उसका भार अपने ऊपर ही आ गया था, इससे वह विह्वल हो गयी थी। वह मन-ही-मन बापूजीपर क्रोधित हो रही थी। तभी वह सुरेशको आते देखकर बोल पड़ी—'दीदी अपने इन दोनों भाई-बहनोंको लेने आयी है। मैं भी उनके साथ जा रही हूँ।'

'तो फिर मेरा ही क्या दोष है!'—कहकर सुरेश भी शीघ्र तैयार हो गया। अभी प्रातःका जलपान भी नहीं हुआ था तबतक तो ये सब अम्बावाड़ीमें आ गये।

× × ×

'दीनू ! आज तेरा गणितका टेस्ट है । सब प्रश्न हल कर लिये ?' 'चाची ! मुझसे यह प्रश्न हल नहीं होता, तुम करा दो न ?'

'यह सब तो युगोंसे छूट गया बेटा ! अब अचानक मैं तुझे कैसे बताऊँ ? यह तो नीला चाचीका ही काम है । परंतु एक काम कर, अपने चाचासे पूछ ले ।'

महेश केमीकल इंजीनियर था, परंतु नवीं कक्षाका गणितका प्रश्न हल नहीं कर सका । वैसे भी वह आज चिढ़ा हुआ था । नित्यप्रति बड़े भाईके साथ बैठकर फैक्ट्रियोंके विकासकी योजनाएँ बनाने तथा प्रातः सुरेशके साथ टेनिस खेलनेमें उसे अद्भुत आनन्द आता था । वह आज न मिलनेसे अधिक व्यग्र बन गया था और इतनेपर भी दीनूने जब यह कहा—'ऐसा प्रश्न भी आपको नहीं आता, किंतु नीता चाची तो फटाफट समझा देती हैं ।' तब तो वह क्रोधित हो गया और आवेशमें बोल पड़ा—'सुबह-ही-सुबह यह क्या ले आया है । कक्षामें तो पढ़ते समय ध्यान नहीं रखता और अब आग लगनेपर कुँआ खोदने चला है ।' दीनूने महेशको कभी क्रोधित नहीं देखा था । इससे उसे बहुत बुरा लगा और रोने-जैसा हो गया । तभी समीपके कमरेमेंसे मधु आयी । मधुसे दीनू डेढ़ वर्ष छोटा था । महेश और रेखाको बच्चोंपर क्रोध करनेका कभी काम ही नहीं पड़ा था । पाठ तैयार न करनेपर रुष्ट होनेका काम नीता चाचीका, खाने-पीनेके विषयमें तथा समयपर तैयार न होनेके विषयमें रुष्ट होना माँका काम था तथा कसरत न की हो तो बापूजी खीजते थे । अतः मधुने भाईका पक्ष लेते हुए कहा—'चलो दीनू ! हमलोग अपने घर चलते हैं, यहाँ नहीं रहेंगे ।' इतनेमें तो कुणाल वहाँ आ पहुँचा और उसे देखते ही दीनू उससे लिपट पड़ा—'कुणाल भाई ! चाचा तो मुझपर खीजते हैं । मैं यहाँ नहीं रहूँगा ।'

'हाँ, मैं तुम्हें लेने ही आया हूँ ! दीदी सरिता और मीनूको लेने गयी है ।' यह सुनते ही मधुका हृदय आनन्दसे उछलने लगा ।

'हाँ चलो, हमलोग जल्दीसे चले चलें ।'

'परंतु मैंने जलपान मेजपर रख दिया है उसे तो कर लो ।'

'वह तो माँके पास ही जाकर करेंगे ।' और दोनों भाई-बहनोंने अपनी पुस्तकों और कपड़ोंकी पेटियाँ मोटरमें रख ही दीं ।

तो महेशको ही कहाँ शान्ति थी । वह तो पूरी रात कमरेमें चक्कर ही लगाता रहा और अन्तमें यही निश्चय किया था कि 'प्रातः जाकर बड़े भाईसे कह दूँगा कि मुझसे बापूजीकी इस आज्ञाका पालन नहीं होगा ।' उसने अर्धरात्रितक जाग्रत् पड़ी पत्नीको अपना निर्णय सुनाया तो उसने कहा, 'मैं भी यही विचार कर रही थी । ऊषा भाभीके साथ मैं सोलह वर्षसे हूँ, अब उनके बिना मुझे अकेले रहना अच्छा ही नहीं लगता । मुझे न तो रसोईघर सँभालना आता है और न बच्चोंको पढ़ाना-लिखाना ही आता है ।'

'अरे हाँ, कल चलते समय बड़े भाईने इतने सब रुपये मुझे घर-खर्चके लिये दिये तो मुझे बड़ा विचित्र-सा लगा था । सबेरे जाकर मैं उन्हें सब वापस दे दूँगा ।' इसके पश्चात् ही महेशको नींद आयी थी ।

× × ×

'माँ ! आज तुमने कुछ भी क्यों नहीं खाया ?'—कामवाली बाईने पूछा ।

'आज मेरी रुचि ही नहीं है ।'

'ऐसा कबतक चलेगा माँ ! संसारमें भाई कहाँ अलग नहीं होते । बापूजीने तो राजी-खुशीसे सबको अलग किया है । तुम व्यर्थ इसमें इतना दुःखी होती हो ।' अनुभवी काशीबाईने ऊषाको समझानेका बहुत प्रयत्न

किया, परंतु उसमें सफल नहीं हुई। ऊषा जब सोलह वर्षकी थी तब ससुराल आयी थी और आज अट्ठाईस वर्षसे घरका सब कार्य-भार सँभाल रही थी। इस घरमें वह सबकी माँ थी।

उसने अपने बच्चों या देवरके बच्चोंमें कभी भेद-भाव नहीं रखा था। सभी बालक ऊषाको माँ तथा नीता-रेखाको चाची कहकर ही पुकारते थे। बच्चोंको भी पता नहीं था कि उनकी सच्ची माँ कौन है? मीनूको जब पाठशालामें प्रवेश दिलाया गया, तब शिक्षकने पूछा था—'अपने पिताका नाम जानता है?' तो उसने कहा—'जी हाँ, जयन्त भाई।' 'और माँका नाम?' 'ऊषा बहन।'

जब नीताने इस विषयकी स्पष्टता बतायी तो शिक्षकको भी आश्चर्य हुआ था। ननिहालसे किसी बच्चेके लिये एक खिलौना आता तो दूसरे छः खिलौने शामतक बाजारसे और आ जाते तभी सबको खेलनेको मिलते थे। इसी कारण सभीने अपने पीहर (नैहर) में कहला दिया था कि कभी कोई वस्तु लानी हो तो सब बच्चोंके लिये लानी चाहिये। बच्चोंको ऐसा नहीं लगना चाहिये कि यह मेरे अकेलेकी है। पैसेका सब व्यवहार बड़े भाई जयन्तके हाथोंमें था। घरकी वस्तुओंकी खरीद करना और घरकी सजावटका काम रेखाके हाथमें था। बच्चोंकी पढ़ाई-लिखाईका काम नीताके हाथमें था और इन सबके ऊपर बापूजीकी बालतुल्य दृष्टि सदैव पड़ती रहती थी। कुटुम्ब-स्नेहका गठन अद्भुत था, सबके मन एक थे, किसीके मनमें वैमनस्य या भेदके विकारोंकी छाया भी देखनेको नहीं मिलती थी। प्रेमके अटूट तारसे सब बँधे थे। सबके कार्यक्षेत्र बँटे हुए थे और सब अपने-अपने उत्तरदायित्वका आनन्दपूर्वक पालन कर रहे थे। घरमें सदैव प्रसन्नता छायी रहती और इसीसे लक्ष्मीदेवीकी अपार कृपा वहाँ उतर आयी थी, परिणाम-स्वरूप अतुल सम्पत्ति घरमें आ रही थी; परंतु समृद्धिके अभिमान और वैभवके विलासका प्रवेश बापूजी और ऊषाने इस घरमें नहीं होने दिया था। बालकों और बड़ोंको भी बापूजीके आग्रहसे प्रातः शीघ्र उठकर आवश्यक व्यायाम करना पड़ता और बरामदेमें दौड़ना पड़ता। तत्पश्चात् स्नान करके ऊषा भाभीद्वारा तैयार किया हुआ सात्त्विक जलपान सबको करना पड़ता। उस समय मधुको दूध अच्छा नहीं लगता।

'मैं दूध नहीं पीऊँगी।' 'क्यों नहीं पीयेगी?'

'बस, अच्छा नहीं लगता इसलिये नहीं पीती।'

'अच्छा नहीं लगता—यह कहनेसे काम न चलेगा।' और फिर ऊषाने समझाकर, बहलाकर तथा कभी क्रोधित होकर भी मधुको दूध पीनेकी आदत डाली थी। उस समय रेखा एक शब्द भी कभी न बोली थी कि मेरी बच्चीको दूध अच्छा नहीं लगता तो चाय दे दो। उलटे सब यही मानते थे कि 'माँ जो कहती है, वही ठीक है।' उस दिन महेश रात्रिमें ग्यारह बजे घर आया तो ऊषाने डाँट दिया था—'इस प्रकार बिना बताये मित्रोंके यहाँ चले जाना ठीक नहीं है। फोन तो कर देना था। यहाँ चिन्ता करके हम आधे हो गये। अभी हम तीनोंने खाया भी नहीं है।' 'क्षमा कर दो भाभी! फिर ऐसा नहीं होगा।' कहकर महेशने ऊषासे क्षमा माँगी थी और उस दिनसे वह कभी इस प्रकार कहीं नहीं गया था।

सासके अवसानके पश्चात् ऊषाने सबको सँभाल लिया था। ससुरकी दिनचर्याका भी वह पूरा ध्यान रखती थी और इसी कारण ऊषाके बिना एक घड़ी भी किसीका काम नहीं चलता था। कब क्या बनाना है और किसे क्या अच्छा लगता है, इसका सम्पूर्ण ध्यान रखकर वह रसोई तैयार करती। बच्चोंको ही नहीं, अपनेसे बड़ोंको भी वह अपने हाथसे प्रेमपूर्वक

परोसकर खिलाती और वह नित्यकर्म आज बदल गया था। इसीसे उसने कुछ नहीं खाया था। बापूजी भी दूधका एक कप लेकर पूजा-घरमें चले गये थे। आज किसीने उनसे खानेका आग्रह नहीं किया था। दीदी भी अपने कमरेमें जाकर सितार बजाने बैठ गयी थी। परंतु मधुके तबलेकी संगतिके बिना सितार बराबर जम नहीं रहा था। कुणाल कौशलको लेकर बाहर टीलेपर बैठकर कहानी सुनाने लगा, परंतु दीनू और मीनूके बिना कहानी जमी नहीं और जयन्त फैक्ट्रियोंकी फाइल लेकर बैठ गया था। जो अम्बावाड़ी नित्य आनन्द और उल्लाससे गूँजती रहती थी, वह आज बिलकुल सुनसान बन गयी थी।

'बापूजीके साथ बहन लता तथा उसके बच्चोंके लिये बाहर क्या भेजना है।' उस रात्रि जयन्तने ऊषासे पूछा।

'यह तो रेखा ही बता सकती है।' ऊषाने सहज भावसे कहा—'तुम्हें तो पता है कि इस विषयमें मेरा अनुभव नहीं है।'

'हाँ, यह तो ठीक, परंतु अब सब तुझे ही करना पड़ेगा।'

'नहीं जी, यह सब करे वह दूसरी। मैं तो कल प्रातः ही रेखा और नीताको फोन कर दूँगी कि सब यहाँ आ जाओ। बापूजीकी आज्ञाका पालन हमने कर लिया। अब तुमलोग प्रसन्नतापूर्वक यहाँ आती रहो।'

'मेरे मनमें भी यही बात आती है कि सबको अलग करनेकी बात बापूजीको क्यों सूझी, यह तो वे जानें, परंतु मैं तो इतना ही जानता हूँ कि मुझे सबके बिना सूना-सूना ही लगता है। इसलिये कल ही सबको बुला लिया जाय।'

'ठीक है।' परंतु ऊषाको फोन करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ी। प्रातःकालीन जलपानका समय होनेसे पूर्व ही दीदी और कुणाल सबको लेकर आ गये थे।

गीता-मन्दिरसे सत्संग करके लौटनेपर बापूजीने जब सबको एक ही जगह अपने-अपने काममें व्यस्त देखा तो आनन्द और आश्चर्यसे बोल उठे—'यह क्या! तुम सबलोग यहाँ कहाँसे आ गये?'

'क्यों? हम तो कल पिकनिकपर गये थे। नहीं तो हम सब यहाँ घरमें ही तो होंगे।'

× × ×

'तो बेटी लता! बात यह है, अब तू ही बता कि मैं किसे अलग करूँ?' विदेशमें स्थित पंकज और लताके साथ बात कर रहे प्राणजीवन सेठने अपनी लाड़ली पुत्रीके समक्ष जब अपनी इच्छाका परिणाम बताया तो पंकज बोल उठा—'बापूजी! इस जमानेमें ऐसा बनना असम्भव है और यहाँ तो ऐसी बातकी कल्पना ही नहीं की जा सकती, परंतु ऐसे परिवारसे मेरा भी कुछ सम्बन्ध है, इस बातका मुझे गौरव है और यदि लताकी सम्मति हो तो अपने दोनों बच्चोंको भी वहाँके स्नेह, प्रेम, सुमेल और संस्कारितासे भरे वातावरणमें भेज दिया जाय।'

जब बापूजीका पत्र मिला कि लताके भी दोनों बच्चे सबके साथ रहकर वहीं पढ़ें तो कैसा रहेगा? तब उसके उत्तरमें दीदीने तो ठीक, परंतु छोटी मधुने भी पत्रमें ए० बी० सी० डी० लिखकर अपनी प्रसन्नता और सम्मति प्रदर्शित की थी और सातों भाई-बहन अपने नये दो भाई-बहनोंका स्वागत करनेको उत्सुक बने उनके आनेके दिन गिनने लगे थे।

(अनु०—रजनीकान्त शर्मा)

पढ़ो, समझो और करो

(१)

गायोंका रक्षक

मैले-कुचैले वस्त्र, बढ़ी दाढ़ी और दुर्बल शरीरका एक व्यक्ति, 'मेहताजी मामेरा भरने चले' में वर्णित प्रेमानन्दका, बैल-गाड़ीका वर्णन जिस प्रकार शत-प्रतिशत जीता-जागता उपस्थित हो, वैसी बैलगाड़ी लेकर गाँवके समीप आया। उसने घरके बाहर धूपका सेवन कर रहे दस-बारह स्वच्छ वस्त्रधारी किसानोंको हाथ जोड़कर राम-राम की। वैसे तो वह समीपके गाँवका ही रहनेवाला था, परंतु आचार-विचार शुद्ध वैष्णवों-जैसे रखनेसे सब उसे भगत कहकर पुकारते थे। अतः एकने तुरंत पूछ लिया—'यह क्या भगत! इन बेचारे दुर्बल बैलोंको क्यों इतनी सर्दीमें कष्ट दिया?'

'क्या करूँ भाई! आठ-दस गायोंकी झंझट पीछे लग गयी है, इसलिये आज आप सबके भरोसे आया हूँ। दो-दो गठरी भूसा दे दोगे तो प्रातः-सायं थोड़ा-थोड़ा डालनेको हो जायगा, यही लालच है।'

'परंतु भगत! ऐसे अकालमें इतने अधिक पशु रखने चाहिये क्या? हम तो किसान हैं, फिर भी पशु बहुत कम कर दिये हैं। आपके पास तो खेती भी बहुत कम है और पशु रखते हो सारे संसारके! फिर इस प्रकार माँगने निकलो, तो यह कैसे किसीको अच्छा लग सकता है?'

'आपको आवश्यकता हो तो सभी बिना मूल्यके दे दूँ, परंतु दुःखी नहीं होना चाहिये। मेरे पास तो एक ही गाय थी, परंतु आप किसान लोगोंका ही सिर चकरा गया है कि गायोंको खूँटेसे खोलकर भगवान्‌के भरोसे निकाल देते हैं। ऐसी भटकती गायें सायंकाल मेरी पशुशालामें इकट्ठी होती हैं और मैं अपनी गायको तो आहार दूँ और उन्हें न दूँ, यह कहाँतक अच्छा है। इस प्रकार घरमें भरा चारा सब समाप्त हो गया तो मनमें आया कि इस समय फसल है, अतः थोड़ा-थोड़ा भी संग्रह कर लूँ तो बहुत काम चल सकता है।'

'आप तो बड़े भोले व्यक्ति हैं, लेना न एक न देना दो-जैसी दिक्कत व्यर्थ मोल ले लेते हैं।'

'अब बात यह है कि ये भटकती गायें आपके यहाँ जायँ तो आप भी लाठी फटकारेंगे। इसलिये मेरे मनमें आया कि गठरी-दो-गठरीके लिये कोई मना नहीं करेगा और गायोंका समय कट जायगा—यदि थोड़ा सावधानीसे काम लूँ तो! अब आपको प्रभु प्रेरणा दें तो दीजिये, नहीं जैसी आपकी इच्छा, और क्या कहूँ?' भगतने हँसकर हाथ जोड़ लिया।

फिर सबने गायोंके लिये श्रद्धापूर्वक चारा दिया और भगतको सानन्द विदा किया। धन्य है गायोंके इस रक्षकको।

(गोरधन वे० भेसाणिया)

(२)

विश्वास करेंगे आप?

माननेमें न आये ऐसी बात है यह। इस स्वार्थ-परायण युगमें ऐसे निःस्वार्थी मनुष्य कहाँ दीखते हैं? कदाचित् दीखते भी हैं तो विरले ही।

धरमदास विशेष महत्त्वपूर्ण व्यक्ति नहीं था, ऐसी उसके आस-पास रहनेवालोंकी मान्यता थी। विद्याभ्यास तो मैट्रिक उत्तीर्ण करनेके पश्चात् ही बंद हो गया था। 'अर्थाभावसे हो गया हो'—ऐसा कहना अर्धसत्य ही माना जायगा; क्योंकि धरमदासके पिता तो शाह सौदागर माधवलाल एक समृद्ध महाजन और सौदागरके रूपमें नगरभरमें प्रख्यात थे। उस समयके प्रसिद्ध श्रीमन्तोंमें उनकी गणना होती थी; परंतु उनकी इस

श्रीमन्तपनाको भोगनेका अवसर उनकी धर्मपत्नी विजया बहनके भाग्यमें न था। ऐसा सौभाग्य लेकर तो आयी थी माधवलाल सेठकी द्वितीय पत्नी ललितागौरी। उन्होंने ललितागौरी-माधवलालके नामका शेयरबाजारमें कार्ड भी ले लिया। भगवान्की दयासे ललितागौरीने दो पुत्रोंको जन्म दिया—अनिल और सुनील। 'बी०-कॉम०' करनेके साथ ही दोनों पिताके धंधेमें सहायता करने लगे। ललितागौरीके आते ही सेठ माधवलालने धरमदास-को अलग करते हुए कहा—

'देख धरम! यह संसार विचित्र है। मेरा सट्टेका व्यापार है। आज लाख कमा लूँ तो कल पचास हजारकी क्षति भी हो सकती है। तू है परिवारवाला व्यक्ति। (धरमदासकी पत्नी कुसुम भी अधिक नहीं पढ़ी थी, परंतु पता नहीं क्यों, धर्मकार्यमें उसका पहलेसे ही विश्वास था। आयुमें अपनेसे छोटी होनेपर भी अपनी सास ललितागौरीको भी वह कभी-कभी देव-मन्दिर अथवा साधु-संन्यासियोंकी कथावार्तामें ले जाती थी।) तू अपना काम-काज अलग सँभाल ले; क्योंकि तू अपनी माँकी तरह सबसे निर्लेप-जैसा रहता है और तेरी पत्नी कुसुमको भी लक्ष्मीका आडम्बर अच्छा नहीं लगता।'

पितासे अलग होनेके पश्चात् वह पिता, सौतेली माँ तथा अनिल-सुनीलसे संयोगवश ही कभी मिलता। बालकेश्वरके बँगलेमें जबसे किशोरावस्थासे युवावस्थामें प्रवेश किया, तबसे उसके दिन सुख-शान्तिसे व्यतीत हुए। वर्षोंकी मधुर स्मृतिके साथ ही स्वर्गीया माँ विजया बहनकी पवित्र स्मृतिने उसे इतना आत्मविभोर कर दिया कि सुख-शान्ति-ऐश्वर्यकी स्मृति उसके नीचे छिप गयी। नहीं, छिप ही नहीं गयी, निर्मूल हो गयी। धरमदास इसके विश्लेषणमें कभी नहीं पड़ता था। स्वयं भला और स्वयं काम-काजका भला। किसी भी वस्तुके संग्रह तथा भोगोंसे अनासक्त, तृष्णारहित, पतिके जीवनमें ही अपने जीवनको मिला देनेमें संतोषका अनुभव करनेवाली कुसुमका धरमदासको सदैव साथ मिलता।

वैसे तो बालकेश्वरका बँगला, सोने-चाँदीके आभूषण, चाँदीके बर्तन आदि सभी ऐश्वर्य-सामग्री माधवलाल सेठके पूर्वजोंद्वारा उपार्जित थी, अर्थात् अविभक्त हिंदू-परिवारकी ही सम्पत्ति थी; परंतु ललितागौरीके आगमन-के पश्चात् विशेष करके अनिल और सुनीलके जन्मके पश्चात् इस पैतृक सम्पत्तिकी चर्चा सेठ माधवलालने संयोगसे ही कभी की होगी। माधवलाल हरिवल्लभदासके फार्मको तो सौ वर्ष होनेको आये—माधवलाल सेठने भले ही सम्पत्तिको दुगुनी-तिगुनी न की हो, कौन देखने गया है वहाँ? परंतु शेयरबाजारका धंधा करनेवाले आज यदि सोनेके हाथियोंपर बैठते हैं अर्थात् आजकी भाषामें कहें तो रोल्स रोइसमें सवारी करते हैं, तो कल पैसे-पैसेके कंगाल भी बन सकते हैं। शेयरबाजारकी तेजी-मंदीका किसे अनुभव नहीं होगा? कहते हैं कि शेयरबाजारमें कभी पैर न रखनेवाले डाक्टरों, इंजीनियरों, प्रोफेसरों तथा पानकी दूकानके मालिकोंको भी शेयर बाजारकी तेजी-मंदीमें बहुत रस मिलता है, यही तो है रँगीली बंबई नगरीकी विशेषता।

एक दिन इसी तेजी-मंदीके परिणाम-स्वरूप हृदय-गतिके रुक जानेसे माधवलाल सेठने अचानक इस संसारसे विदा ले ली। लगभग पैंतीस लाखका ऋण माधवलाल हरिवल्लभके फार्मपर हो गया था। इसी कारण सड़सठ वर्षोंके वृद्ध सेठका हृदय बैठ गया हो किसे पता? बात धीरे-धीरे धरमदासतक पहुँची।

× × ×

पैतृक सम्पत्तिका हिसाब धरमदासके पास न हो, यह तो कैसे कह सकते हैं? वह विलक्षण बुद्धिशाली और अनुभवी था तथा बचपनसे ही धंधा करता था।

मन-ही-मन उसने हिसाब किया—आजके हिसाबसे बालकेश्वरका बँगला, सोनेके आभूषण, चाँदीके बर्तन आदि सम्पत्ति जो पूरे कुटुम्बकी ही है, लगभग चालीस-पचास लाखकी तो होगी ही। पूरे शहरमें तो हल्ला मच गया है कि माधवलाल हरिवल्लभके फार्मपर पैंतीस लाखका कर्ज हो गया है।

धरमदासने दो मसौदे अपने एडवोकेटसे तैयार कराये और ललितागौरीसे कहा—'माँ! यहाँ सही बनाइये तो।' ललितागौरीकी कभी भी खबर न लेनेवाले धरमदासने दोनों कागजोंपर कहाँ-कहाँ सही करनी है, यह अपनी सौतेली माँको बता दिया।

ऐसे ही बिना सोचे-समझे सही बना दे तो ललितागौरी ही कैसी! उसने अपने छोटे पुत्र सुनीलको पुकारा—'सुनील! देख तो बेटा! तेरा यह बड़ा भाई कैसे कागजोंपर सही बनानेको कहता है! अपना हिस्सा लेनेको तो नहीं·······अभी तो उन्हें गये एक महीना भी व्यतीत नहीं हुआ है।' मसौदेके कागजोंको सुनील जब पढ़ रहा था तब ललितागौरीका शङ्काशील हृदय हाथमें नहीं रहा। जो कुछ भाव उठा बिना विचारे वह बोलती ही गयी। तभी सुनीलने माँके कानमें कहा—'माताजी! बड़े भाई जहाँ-जहाँ कहते हैं उस-उस स्थानपर सही कर दीजिये।'

एच० यू० एफ०की अपने हिस्सेमें आनेवाली पूरी धनराशि धरमदासने अपने दोनों भाइयों और सौतेली माँके नाम कर दी थी। उसकी स्वयंकी सही तो उसपर थी ही, परंतु यह प्रस्ताव स्वीकार करनेवाले-की सहीके नीचे ललितागौरी, अनिल और सुनीलकी सही करवानी थी।

कुछ भी आनाकानी किये बिना तीनोंने सही बना दी। तभी धरमदासने दूसरा मसौदा सामने रखा, जिसमें मात्र उसकी अपनी ही सही थी। उसमें लिखा था—मेसर्स माधवलाल हरिवल्लभदासके फार्मका ऋण चुकानेका पूरा उत्तरदायित्व मेरा है। मेरा अर्थात् माधवलालके बड़े पुत्र धरमदासका। इस फार्मको धरमदासने अपने नामसे करा लिया था।

ललितागौरी और दोनों सौतेले भाइयोंने तो संतोषकी साँस ली। न कोई आभार-वचन, न कोई विज्ञापन—बड़े भाई! आप क्यों इतना सब करते हैं। हम दोनों भी तो हैं····परंतु ऐसा न तो कुछ अनिल-सुनील बोले और न सेठानी ललितागौरीने उसे ऐसी सहायता करनेके लिये प्रोत्साहन दिया। भले ही तीनोंमेंसे किसीने कुछ भी नहीं कहा था, परंतु तीनोंके चेहरेपर इस कृतज्ञताके भाव स्पष्ट अङ्कित हो गये थे। धरमदासको इस बातकी क्या चिन्ता थी? वह तो दूसरे ही दिनसे काममें जुट गया। ऋण माँगनेवाले प्रत्येक व्यक्तिके यहाँ जा-जाकर उसने इस बातका विश्वास दिलाया कि माधवलाल हरिवल्लभदासके फार्मका मालिक वह स्वयं है। कहते हैं कि उसने एक-एक व्यक्तिका ऋण चक्रवृद्धि-व्याजके साथ चुका दिया।

× × ×

वह धरमदास आज भी मिलता है तो कहता है—भाई साहब! बताइये तो कोई रास्ता! इतनी-इतनी धन-सम्पत्तिका मैं क्या करूँ! जहाँ हाथ डालता हूँ वहाँ पैसा-ही-पैसा। पैसेसे तो मैं विकल हो गया, मैं भी और मेरी पत्नी कुसुमगौरी भी। माँकी तरह यह भी गौरी शब्द अपने नाममें लगाने लगी है, छोड़ती ही नहीं है, परंतु इसका गौरीपना दूसरे प्रकारका है, वास्तवमें तो यह धरमदासकी धर्मपत्नी है न!'

लोगोंकी मान्यता है कि धरमदास लक्ष्मीके पीछे नहीं, अपितु लक्ष्मी स्वयं उसके पीछे पड़ी है। वह तो सदैव चलते-फिरते दो सूत्र बोलता रहता है—'जो संग्रह करके घरमें रखता है, वह पैसे-पैसेको रोता है।' अथवा—

स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः। —अखण्ड आनन्द

मनन करने योग्य

(१)

विद्वान् सर्वत्र पूज्यते

एक बार भारतकी पौराणिक संस्कृतिके दर्शक एवं भारतके महान् कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर जापान पहुँचकर दूसरे दिनसे ही उन्होंने अपनी पुस्तक 'गीताञ्जलि'पर नित्यप्रति सायं ६ से ७ तक प्रवचन करना प्रारम्भ किया। कविश्रीकी अंग्रेजीमें समझानेकी इतनी सरल पद्धति थी कि उनके प्रवचनको सुनने और ग्रहण करनेके लिये लोगोंकी भीड़ दिन-प्रति-दिन बढ़ने लगी। सायंकाल सात बजे जब प्रवचन पूर्ण होता और कविवर टैगोर अपने आसनसे उठकर चलने लगते, तब प्रत्येक जापानी युवक, वृद्ध आदि उनके चरणस्पर्श करके अपने-आपको धन्य मानते थे। उस समय एक वृद्ध जापानी प्रतिदिन कविवरके आसनके समीप ही बैठकर बड़ी शान्तिसे प्रवचन सुनते और सदैव कविके आगमनसे पूर्व सभामें आते तथा उनके जानेके पश्चात् ही बाहर निकलते थे। उनकी कविश्रीके प्रति इतनी अधिक श्रद्धा हो गयी थी कि वे प्रतिदिन उनके लिये गुलाबका एक हार लाते और प्रवचन प्रारम्भ होनेसे पूर्व उनके गलेमें पहना देते। उनकी ऐसी पवित्र भावना देखकर कविश्रीका भी उनके प्रति स्नेह-भाव हो गया था। यह कार्यक्रम दस दिनका था, अतः दसवें दिन पूर्णाहुति हुई। लोगोंने कविश्रीके चरणोंमें रेशमी कपड़े, गलीचे और रुपयोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी। उसी समय वह चीथड़ोंमें विराजित वृद्ध आगे आया और कविश्रीके चरणोंमें वन्दन करते हुए बोला—'मेरी आपसे विनम्र प्रार्थना है कि आप मात्र आधे घंटेके लिये हमारे घर पधारें और हमारे आँगनको अपने पवित्र चरणोंसे पावन करें।' कविवर टैगोरने द्रवित होकर कहा—'भाई ! मैं कल चार बजे अवश्य तुम्हारे यहाँ आऊँगा, परंतु तुम मेरा स्वागत आदि करनेमें बहुत खर्च मत करना।' वह प्रसन्न हो गया और बोला—'कविजी ! मैं ठीक चार बजे आपको मोटर लेकर लेने आऊँगा। आपने मेरा आमन्त्रण स्वीकार किया, इसके लिये मैं आपका बहुत आभार मानता हूँ।'—ऐसा कहकर वह चला गया।

तत्पश्चात् कविश्रीने अपने रहस्य-मन्त्रीको बुलाया और कहा—'देखिये, यह व्यक्ति बहुत ही गरीब लगता है, परंतु इसकी मेरे प्रति इतनी अधिक श्रद्धा है कि कल हमारे वहाँ जानेपर यह बहुत अधिक व्यय करके हमारा स्वागत करेगा। अतः आप साथमें दो सौ रुपये लेते चलना और उसके लड़केके हाथमें मेरी ओरसे दे देना।'

दूसरे दिन वह वृद्ध ठीक चार बजे फूलोंसे श्रृंगार की हुई सुन्दर रोल्सरोय मोटर लेकर कविश्रीको लेनेके लिये आया। गुलाबोंके फूलोंसे सुशोभित रोल्सरोय मोटर देखकर ही कविश्री विचारमें डूब गये कि वास्तवमें यह निर्धन व्यक्ति मेरे प्रेमके वशीभूत होकर सीमासे ऊपर खर्च कर बैठेगा और फिर वे मोटरमें बैठे। जब मोटर पाँच मील आगे बढ़कर एक टीलेके ऊपर विशाल बँगलेमें प्रविष्ट हुई, तब कविश्री बोल उठे—'भाई ! मुझे तो तुम्हारी झोपड़ीपर चलना है, ऐसे भव्य महलमें तुम मुझे किसके समीप ले जा रहे हो ?' उसने कहा—'आप देखते रहें अभी इस प्रश्नका उत्तर आपको स्वतः मिल जायगा।' इतना कहते-कहते मोटर बँगलेके मुख्य द्वारके समीप पहुँची और बँगलेमेंसे एक-से-एक सुन्दर युवक, युवतियाँ, प्रौढ़ पुरुष और नारियाँ बाहर आयीं। कविश्रीके ऊपर गुलाब-जलका छिड़काव किया गया तथा उन्हें मध्य खण्डमें ले जाया गया और सोनेकी कुर्सीपर बिछे रेशमी आसनपर बैठाया गया, उनके समक्ष सोने-चाँदीकी लगभग दो सौ प्लेटें तरह-तरहके फलों और मेवोंसे भरकर रखी गयीं और एकके पश्चात् एक व्यक्ति उनके चरणोंमें प्रणाम करने लगा तो कविश्रीने उन वृद्धसे पूछा—'क्या यह तुम्हारे सेठका परिवार है ?' तब उसने उत्तर दिया—'गुरुदेव ! यह बँगला मेरा है। ये लड़के, लड़कियाँ, प्रौढ़ पुरुष और स्त्रियाँ मेरे

पुत्र-पुत्रियाँ, प्रपौत्र और प्रपौत्रियाँ हैं । आप-जैसे महापुरुषोंके आशीर्वादसे मैं एक बहुत बड़ी कपड़ेकी मिलका मालिक हूँ । मेरे पास ऐसी छः मोटरें तथा सात बँगले हैं, परंतु यह सब तो नाशवान् जगत्की समृद्धि है, जो चञ्चल है और सम्भव है कल अपने समीप न भी रहे, अतः इसका क्या अभिमान करूँ ? आपके समीप ज्ञानरूप जो धन है वही सच्चा धन है । इसी कारण मैं आपके समीप इतनी निर्धन-अवस्थामें आकर बैठता था; क्योंकि इस झूठे सांसारिक धनका जगत्के समक्ष प्रदर्शन करनेकी मेरी बिलकुल इच्छा नहीं है ।' यह सुनकर कविश्री बोल उठे—'जहाँ ज्ञानका आदर होता है, वहीं लक्ष्मी निवास करती हैं ।'

—पं० नवीनचन्द ऐम-कामदार

(२)

राजाकी फूलदानी

एक राजाको विभिन्न प्रकारके फूलोंसे बहुत प्रेम था । उसने अपने राजमहलमें पचीस फूलदानी कलात्मक ढंगसे सजाकर रखवायी थीं । उनके लिये वहाँ एक नौकर था, जो फूलदानियोंकी सँभाल करता था । संयोगवश एक दिन उस नौकरके हाथसे एक फूलदानी टूट गयी । नौकर डरने लगा; क्योंकि वह राजाके स्वभावसे परिचित था। राजाको जब इस बातका पता लगा, तब उसने नौकरको फाँसीकी सजाका आदेश दे दिया ।

मन्त्रियोंने उसे बहुत समझाया, परंतु राजा तो राजा ही ठहरा । अन्तमें उसने नौकरके लिये दो महीनेकी अवधि निश्चित कर दी और यह घोषणा कर दी कि इस मध्य जो कोई इस टूटी फूलदानीको जोड़कर ठीक कर देगा, उसे मुँहमाँगा पुरस्कार मिलेगा । अनेक लोग अपने भाग्यकी परीक्षा लेने आये, परंतु कोई सफल न हुआ । एक महीनेके पश्चात् एक साधु आये और उन्होंने फूलदानी ठीक करनेका बीड़ा उठाया । उन्हें उस महलमें ले जाया गया । साधुने फूलदानी हाथमें ली और इधर-उधर घुमाकर देखा । बहुत निरीक्षण करनेके पश्चात् उन्होंने कहा—'एक लकड़ी लाइये ।' राजाने लकड़ी दे दी । एक, दो, तीन,····राजा कुछ विचार करे, उससे पूर्व ही साधु शेष फूलदानियोंपर टूट पड़े । थोड़े ही समयमें उन्होंने सभी फूलदानियोंका ढेर लगा दिया । राजा थोड़ी देर तो आश्चर्यचकित होकर देखता रहा, तत्पश्चात् क्रोधित होकर बोला—'यह क्या किया तूने ?'

'चौबीस व्यक्तियोंकी जान बचायी है, राजन् !'—साधुने शान्तिपूर्वक उत्तर दिया ।

राजा साधुकी रहस्यपूर्ण वाणी समझ न सका । उसने साधुको हाथीके पैरोंके नीचे कुचल डालनेका आदेश दे दिया । साधु मन-ही-मन ईश्वरकी स्तुति करके शान्तिपूर्वक पृथ्वीपर लेट गये, परंतु न जाने प्रेमका प्रभाव पशुपर किस प्रकार होता है ! हाथीका महावत अङ्कुश मारते-मारते थक गया, परंतु हाथी आगे न बढ़ा तो नहीं ही बढ़ा । दूसरा हाथी लाया गया, वह भी आगे नहीं बढ़ा । राजाको जब इस बातका पता लगा, तब उसने साधुको बुलाकर पूछा—'आप कोई गजवशीकरण-मन्त्र जानते हैं क्या ?'

साधु बोले—'राजन् ! सेवा, शील, प्रेम और परोपकारसे उत्तम मन्त्र कोई नहीं है । मैं आप और हाथी—दोनोंका शुभ चाहता हूँ । ऐसी भावना रखनेवालेका अकल्याण कैसे हो सकता है ! मैं तो मधु तैयार करनेवाली मधुमक्खीकी तरह हूँ । यदि आप मुझे यहाँसे भगा देंगे तो दूसरी जगह जाकर मधु-संग्रह करूँगा । मधु मुझे स्वयं खाना नहीं है, उसे भले दूसरे ही खायँ । सब खानेवाले ही होंगे तो बनानेवाला भी तो कोई चाहिये । इस संसारमें एक नियम है—जो जन्मा है वह मरेगा ही; जो आया है वह जायगा ही । तुम्हारी फूलदानी अमर रहनेवाली न थी । आज नहीं

तो कल एकके पश्चात् एक सब टूटनेवाली ही थीं और इस प्रकार एकके पश्चात् एक—कुल चौबीस मनुष्य मृत्युकी भेंट होते। आप मेरे लिये चाहे जो दण्ड दे सकते हैं।'

साधुकी प्रेमभरी सत्य वाणी सुनकर राजाको वास्तविक सत्यका दर्शन हुआ। उसने नौकरकी फाँसी रोक दी और वह साधुके चरणोंमें पड़कर अपने अपराधके लिये क्षमा माँगने लगा। —परेश गे० दावड़ा

(३)

सुखका मूल संतोष

एक बार भगवान् बुद्ध एक विशाल नगरके एक मठमें चार-पाँच महीने ठहरे। हृदयको शान्ति देनेवाली भगवान् बुद्धकी अमृत वाणी सुननेके लिये सैकड़ोंकी संख्यामें मनुष्य उस मठमें निरन्तर आते रहते थे। उनमें साधारण मजदूरसे लेकर नगरसेठ तक रहते थे।

एक दिन भगवान् बुद्धके शिष्य आनन्दने पूछा—भगवन्! आपके समीप जितने व्यक्ति आते हैं, सभी अपना कुछ-न-कुछ दुखड़ा रोनेके लिये ही आते हैं, तो क्या वास्तवमें इस नगरमें कोई वास्तविक सुखी व्यक्ति नहीं है?'

भगवान् बुद्धने कहा—'ऐसी बात नहीं है, वह साधारण-सा मजदूर जो सायंकाल आकर सबके पीछे बैठता है और मौन रहता हुआ सबकी बात सुनकर चुपचाप चला जाता है, वही इस नगरमें सबसे अधिक सुखी व्यक्ति है।'

यह बात आनन्दके गले न उतरी। उन्होंने कहा—भगवन्! उसके पास न शरीरको ढकनेके लिये कपड़े हैं, न रहनेके लिये अच्छा घर और न पेट भरनेको पूरा भोजन, फिर भी वह नगरसेठ और अन्य श्रीमन्तोंकी अपेक्षा अधिक सुखी है, यह कैसे सम्भव है?'

ध्यानमें बैठनेका समय हो गया था, अतः भगवान् बुद्धने उस समय आनन्दको कोई उत्तर न दिया। दूसरे दिन सायंकाल प्रवचन समाप्त होनेपर एकत्रित हुए श्रोताजनोंसे तथागतने पूछा—'यदि भगवान् तुम लोगोंपर प्रसन्न होकर कुछ वस्तु माँगनेको कहें तो तुम लोग क्या माँगोगे?'

इस प्रश्नके उत्तरमें प्रत्येकने अपने इच्छानुसार अलग-अलग वस्तु बता दी—'एक धनिक वैश्यने सामान्य किसानका शान्तिपूर्ण जीवन माँगा। एक किसानने जमींदारी माँगी, जिससे बिना परिश्रमके ऐश-आरामसे जीवन व्यतीत कर सके। एक जमींदारने कुटुम्ब-कबीलेके वर्तमान जंजालसे छूटकर मुक्तिका आनन्द प्राप्त हो सके—ऐसी आकाङ्क्षासे साधुका निःस्पृह और चिन्तारहित जीवन माँगा। एक कविने अपने ऊपर सरस्वती देवीकी कृपा हो जानेकी अभिलाषा व्यक्त की।

इस प्रकार वहाँ इकट्ठे हुए सभी श्रोताओंने अपनी कोई-न-कोई ऐसी इच्छा व्यक्त की, जिसके अभावमें वे अपनेको दुःखी समझते थे, परंतु एकमात्र उस मजदूरने अपनी कोई इच्छा व्यक्त नहीं की।

अन्तमें भगवान् बुद्धने उस मजदूरसे भी उसकी आन्तरिक इच्छाके विषयमें आग्रहपूर्वक पूछा। उसने कहा—भगवन्! मेरी तो भगवान्से एक ही विनती है कि मेरी वर्तमान परिस्थितिमें कोई परिवर्तन न करें। इस समय जो कुछ मेरे पास है, मजदूरीसे जो कुछ मैं प्राप्त करता हूँ, उतनेसे पूर्ण संतोष है। मेरी अन्तरात्मा प्रसन्न है और इस प्रकार मेरे वर्तमान जीवनमें किसी प्रकारका असंतोष न होनेसे मुझे किसी प्रकारका दुःख नहीं है। भगवान्से मेरी पुनः-पुनः यही प्रार्थना है कि मेरे मनमें असंतोषका अङ्कुर भी उत्पन्न न होने दें।'

शिष्य आनन्दकी शङ्का मजदूरका उत्तर सुनकर निर्मूल हो गयी। उन्हें पता लग गया कि वास्तवमें सच्चा सुख मात्र अपार समृद्धिमें, शान्त-एकान्त जीवनमें, सच्चे प्रेमीके मिलनेमें अथवा सरस्वतीकी कृपा होनेमें नहीं है, किंतु सच्चा सुख तो निष्काम-भावना और सभी स्थितियोंमें संतोष माननेमें ही है।

॥ श्रीहरिः ॥

(भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिकपत्र-)

'कल्याण'

—के ६१ वें वर्ष (वि० सं० २०४३-४४, सन् १९८७ ई०) के दूसरे अङ्कसे बारहवें अङ्कतकके

निबन्धों, कविताओं और संकलित सामग्रियोंकी वार्षिक विषय-सूची

(विशेषाङ्ककी विषय-सूची उसके आरम्भमें देखनी चाहिये, वह इसमें सम्मिलित नहीं है ।)

निबन्ध-सूची

पद्य-सूची

संकलित पद्य-सूची

संकलित सामग्री



श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारद्वारा रचित तथा अनुवादित सत्साहित्य मँगायें

नाम पुस्तक	मूल्य	नाम पुस्तक	मूल्य
पद-रत्नाकर ...	१४.००	उपनिषदोंके चौदह रत्न ...	१.००
संत-वाणी ...	३.५०	साधन-पथ ...	.७५
सुखी बननेके उपाय ...	३.५०	कल्याणकुंज भाग १ ...	१.२०
मधुर ...	३.००	" भाग २ ...	१.२०
सत्संगके बिखरे मोती ...	२.५०	" भाग ३ ...	२.००
भगवन्नाम-चिन्तन ...	३.००	दिव्य सुखकी सरिता ...	१.००
भगवच्चर्चा भाग १ ...	३.५०	सफलताके शिखरकी सीढ़ियाँ ...	१.२५
" भाग २ ...	२.५०	मानव-धर्म ...	१.००
" भाग ३ ...	४.००	भगवन्नाम ...	.६०
" भाग ४ ...	४.००	गोवध भारतका कलंक एवं गायका	
" भाग ५ ...	५.००	माहात्म्य ...	.५०
" भाग ६ ...	५.००	गोपी-प्रेम ...	.५०
लोक-परलोक-सुधार भाग १ ...	२.००	ब्रह्मचर्य ...	.४०
" भाग २ ...	२.५०	आनन्दकी लहरें ...	.३५
" भाग ३ ...	३.००	मनको वश करनेके कुछ उपाय ...	.३०
" भाग ४ ...	३.००	भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा ...	.३०
" भाग ५ ...	३.००	सिनेमा—मनोरञ्जन या विनाशका साधन	.३०
व्यवहार और परमार्थ ...	२.००	राधा-माधव-रस-सुधा ...	.४०
भवरोगकी रामबाण दवा ...	१.५०	विवाहमें दहेज ...	.१५

स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजकी आत्मबोध करानेवाली पुस्तकें पढ़ें

नाम पुस्तक	मूल्य	नाम पुस्तक	मूल्य
गीता-दर्पण ...	१५.००	भगवत्प्राप्तिकी सुगमता ...	४.००
गीताकी राजविद्या ...	४.५०	तात्त्विक प्रवचन ...	३.००
गीतामाधुर्य ...	४.५०	सत्संगकी विलक्षणता ...	२.५०
गीताका ज्ञानयोग ...	४.००	वास्तविक सुख ...	२.५०
गीताका भक्तियोग ...	४.००	जीवनका सत्य ...	२.५०
गीताका आरम्भ ...	३.५०	साधकोंके प्रति ...	२.००
गीताकी विभूति और विश्वरूप-दर्शन	३.००	भगवन्नाम ...	२.००
गीताकी सम्पत्ति और श्रद्धा ...	५.००	कल्याणकारी प्रवचन प्रथम ...	२.००
गीताका कर्मयोग खण्ड २ ...	४.००	" द्वितीय ...	२.५०
गीताका ध्यानयोग ...	२.००	स्वाधीन कैसे बनें ? ...	१.००
गीता-परिचय ...	२.००	Benedictory Discourses ...	3.50
गीताका सारभूत श्लोक ...	.८०	Let us Know the truth ...	2.00
मानसमें नाम-वन्दना ...	५.००	The Divine Name. ...	2.00

'कल्याण'के ग्राहकों तथा विक्रेताओंके लिये लाभप्रद योजना

'कल्याण'के आगामी विशेषाङ्क—'शिक्षाङ्क'का वार्षिक-शुल्क डाकखर्चसहित यद्यपि ३८.०० (अड़तीस) रुपये मात्र है, तथापि 'कल्याण'-प्रेमी सभी ग्राहकों एवं विक्रेता-बन्धुओंको 'कल्याण' कम-से-कम मूल्यमें सुगमतासे सुलभ हो, इस उद्देश्यसे यह योजना क्रियान्वित की जा रही है। इसमें सभीको अधिकाधिक सहयोग देकर लाभान्वित होना चाहिये।

इस योजनाके अन्तर्गत ग्राहक-सज्जन गीताप्रेस, गोरखपुरके किसी भी स्थानीय पुस्तक-विक्रेतासे ३८.०० (अड़तीस) रुपयेके स्थानपर मात्र ३३.०० (तैंतीस) रुपये ही वार्षिक-शुल्क देकर अपने सभी अङ्क पूरे वर्षतक प्राप्त कर सकेंगे। 'कल्याण'की कम-से-कम ५० प्रतियाँ एक साथ मँगानेपर सभी विक्रेताओंसे ३३.०० (तैंतीस) रुपये प्रति विशेषाङ्ककी दरसे मूल्य लिया जायगा; किंतु उन्हें १५ प्रतिशत कमीशन 'कल्याण'के वास्तविक मूल्य ३०.०० (तीस) रुपये पर ही दिया जायगा; क्योंकि ३.०० (तीन) रुपये साधारण अङ्कोंके डाक-व्ययके रूपमें लिये जायँगे। उदाहरणार्थ—विक्रेताओंसे ५० विशेषाङ्कोंका मूल्य ३३.०० (तैंतीस) रुपये प्रतिविशेषाङ्ककी दरसे १६५०.०० (एक हजार छः सौ पचास) रुपये लिया जायगा और कमीशन १५ प्रतिशतकी दरसे 'कल्याण'के वास्तविक मूल्य ३०.०० (तीस) रुपये प्रति-विशेषाङ्कके अनुसार कुल १५००.०० (एक हजार पाँच सौ) रुपये पर २२५.०० (दो सौ पचीस) रुपये दिये जायँगे। इस प्रकार कम-से-कम ५० विशेषाङ्क एक साथ मँगानेवाले विक्रेता-बन्धुओंको २२५.०० (दो सौ पचीस) रुपये कमीशनके काटकर मात्र १४२५.०० (एक हजार चार सौ पचीस) रुपये ड्राफ्टद्वारा भेजने चाहिये। सभी विक्रेताओंको ३३.०० (तैंतीस) रुपयेमें ही ग्राहक बनाकर वर्षपर्यन्त सब अङ्क स्थानीय ग्राहकोंको वितरित करने होंगे। विक्रेताओंको विशेषाङ्क रेल-पार्सलद्वारा तथा साधारण अङ्क रजिस्टर्ड-डाकद्वारा हमारे यहाँसे भेजे जायँगे। जो पुराने ग्राहक स्थानीय विक्रेताओंसे अङ्क लें, वे इसकी पूर्व सूचना कल्याण-कार्यालयको कृपया अवश्य दे दें, जिससे उन्हें यहाँसे वी० पी० पी० न भेजी जा सके।

यदि ग्राहक महानुभाव चाहें तो अपने-अपने नगरों तथा ग्रामोंमें कम-से-कम ५० ग्राहकोंका संगठन बनाकर, एक स्थानपर ५० प्रतियाँ सामूहिक रूपमें मँगाकर स्थानीय ग्राहकोंमें उनका वितरण पारस्परिक सहयोगसे कर सकते हैं। उन्हें भी स्थानीय विक्रेताओंकी तरह उपर्युक्त सुविधाएँ समानरूपसे दी जायँगी। 'कल्याण'के माध्यमसे शुभ और सात्त्विक भावोंके प्रचार-प्रसारमें रुचि रखनेवाले सभी धर्मप्रेमी सज्जनोंको इस सामूहिक वितरण-योजनाके कार्यमें सहयोगी बनकर प्राप्त सुअवसरसे लाभ उठाना चाहिये।

मानव-जीवनके सर्वाङ्गीण विकास तथा सर्वविध उत्कर्षके लिये 'शिक्षा'का आश्रय अन्यतम तथा सर्वाधिक महत्त्वशाली है। शिक्षासे ही संस्कार प्राप्त होते हैं। सुशिक्षित, सच्चरित्र, सुयोग्य और प्रबुद्ध नागरिकोंके क्रियाकलापों तथा सेवाओंसे ही राष्ट्रका स्वरूप प्रखर तथा उत्तरोत्तर उज्ज्वलतम बनकर राष्ट्र-मस्तक पूर्ण दीप्तिमान् एवं गर्वोन्नत होता है। अतएव आजके इस सर्वमान्य और बहुचर्चित विषय—'शिक्षा' पर एक सशक्त, विचारपूर्ण और तात्त्विक सामग्रीसे युक्त विशेषाङ्क प्रकाशित करनेकी आवश्यकता अनुभव की गयी। यह अङ्क बालकों, अभिभावकों, विद्यार्थियों, अध्यापकों, विद्वानों, विचारकों तथा देश और समाजके अग्रणी चिन्तकों और राजनेताओंके लिये तो परमोपयोगी होगा ही; गाँवों तथा नगरोंमें बसनेवाले सर्व-साधारण सद्गृहस्थों एवं माता-बहनोंके लिये भी महत्त्वका सिद्ध होगा। इस प्रकार यह विश्वविद्यालयों, विद्यालयों, पुस्तकालयों, वाचनालयों, शिक्षण-संस्थाओं एवं अन्यान्य लोकसेवी संस्थानों और सार्वजनिक प्रतिष्ठानोंके लिये भी परम उपादेय होनेसे सर्वथा संग्रहणीय है। ऐसे सर्वजनोपयोगी अङ्ककी अपनी प्रति सुरक्षित करानेके लिये इच्छुक सज्जनोंको अपना सदस्यता-शुल्क स्थानीय विक्रेताओंके पास मात्र ३३.०० (तैंतीस) रुपये जमा करने अथवा सीधे 'कल्याण'-कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुरके पतेपर ३८.०० (अड़तीस) रुपये भेजनेमें अब विलम्ब नहीं करना चाहिये।

व्यवस्थापक—'कल्याण' गीताप्रेस, गोरखपुर २७३००५